Brown Colour Book

DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178385
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H920/J61A Accession No. G.H. 773

Author जितेन्द्र

Title ये घर ये लोग

This book should be returned on or before the date last marked below.

ये घर ये लोग

(स्टडी-स्केच)

जितेन्द्र

प्रकाशक
युग-मन्दिर
उन्नाव

मुद्रक
आलोक प्रेस,
रीवां

पुस्तक सम्बन्धी तीन ज्ञातव्य बातें

१ सभी पात्र कल्पित हैं।

२ पुस्तक प्रकाशन की समस्त जिम्मेदारियाँ लेखक पर हैं।

३ समस्त अधिकार 'युग-मन्दिर' में सुरक्षित।

कीमत—एक रुपया आठ आना मात्र

'ये घर, ये लोग'

जितेन्द्र

मैं ही जानता हूं कि आज मुझे कितनी तकलीफ है। सितम्बर महीना के इस आज की तारीख़ को जैसे पिछली अनगिनत तारीख़ों के समुद्र ने ज्वार की तरह फेंक दिया हो, और उसके फूत्कारित फेनिलोच्छ्वास में उद्विग्न और हताश होकर मेरा दम तोड़ बैठना ही अधिक स्वाभाविक होगा।

सर से ऊपर गिद्धनुमा पंखा चक्कर काट रहा है। दो निर्जीव पंखों की छाया रेस्त्राँ की नीली रोशनी से छनकर सामने की दीवाल पर पड़ रही है, जैसे दो समुद्री पंछी मार कर डाल से लटका दिये गये हों। आने-जाने वालों का तांता ख़तम हो चुका है, लेकिन उनके कहे गये वाक्य, उनकी हँसी, उनका शोर, उनके बोलने-चालने का ढंग, सब कुछ एक-सा होते हुये भी, अलग-अलग घेरों में बँधे, कार्बन-डाई-ऑक्साइड की तरह वातावरण में भर गये हैं, फलतः कुर्सियां और हरी टेबुलों पर थकान और बासीपन की पर्त चढ़ चुकी है। पैरों को घिसते हुए 'बैरे' कभी इधर-उधर आते जाते दिखलाई पड़ जाते हैं। क्रीम लगा कर चिमटाये गये बाल की तरह दीवाल से चिमटी हुई गांधी जी की तस्वीर उतनी ही पुरानी और बीती मालूम पड़ती है, जितनी धनुष-यज्ञ में राम का पौरुष प्रदर्शित करने वाली तस्वीर। दोनों ही निर्जीव...दोनों ही नुमाइशी। कहीं बाहर से इक्का या तांगा के चक्कर का घिसटता, कड़वा और पैना स्वर अन्दर घुस आया तो घेरों में बंधी हुई इकाइयों में खलबली मच जाती, फिर सब कुछ शान्त और निश्चेष्ट। वातावरण में बंधी इकाइयाँ सूनी टेबुल पर अकेले बैठे हुए आदमी को कुर्सी में दबाने लगतीं...

मैं चाहता हूं कि इन्हें भूलकर टेबुल पर एक जोर का घूंसा लगाऊँ, 'ब्वाय' को चाय लाने को कहकर, पैर फैलाऊँ और गीत गुनगुनाना शुरू

कर दूँ लेकिन लगता है अगर मैंने कुछ भी ऐसा किया तो घर लौटते वक्त म्युनिस्पल लाइट-पोस्टर के पीछे फैले हुए अँधियारे से निकल कर दो आदमी मेरी ओर बढ़ेंगे, और गला दबा कर मार डालेंगे।

बड़ी गर्मी मालूम हो रही है। मलगुजे किपड़े बदन से चिमटने लगे हैं और अब तो पहनने वाले को ही इन्होंने अपने हर सूत के तांत से काटना शुरू कर दिया है। तबीयत होती है कि उस्तरा से इन्हें तराश कर फेंक दूं। जेब में सिगरेट की पैकेट महसूस करता हूँ, उगलियां को सड़ा मुर्दा छू जाने का सा अनुभव होता है, और धूँये की घूँट को निकोटीन की कीट के पर्त के इस पार चूस सकने का विचार अस्पर्श्य सा मालूम पड़ता है।

मेरा ख्याल है कि सोते-सोते कल मैं ठीक बारह बजे जगा होऊँगा, और राशि-फल देखूँ तो साफ मालूम हो जायेगा कि मेरे जैसे ग्रह और नक्षत्र वाले आदमियों के लिए आज की तारीख अपशकुन की तरह एक घटना है जो मंघातिक परिणामों की ओर इशारा करता है। निश्चय है कि अखबार खोलते ही कल सुबह मुझे कुछ आदमियों के आत्मघात करने की घटनाओं का वितरण पढ़ने को मिलेगा।

बड़ी गर्मी है। पसीना आज मुझे सोख लेगा। हताश नजर मैनेजर की टेबुल पर रक्खी टाइमपीस पर जा टिकती है। दस बजकर तीन...टिक टिक-टिक-टिक, बड़ी सूई जरा और खसको...जरा और खसकेगी तो चार पर पहुँच जायेगी।

सोने से चौंक कर उठा, तो फिर अँधेरी गलियों के ऊँचे-नीचे छोटे-बड़े खड्डों में उलझता और लड़खड़ाता, म्युनिस्पल लाइट पोस्टरों से सहारा लेता, बेढंगे दीवालों से टकराता, भूँकने वाले कुत्तों को समझाता हुआ कि अपनी परछाईं को न काटे, सुथरी और साफ सड़कों की ओर भागा, और फिर दोनों किनारों पर ऊंघते घरों को, जिनमें नींद कसमसा-कसमसा कर घुट-घुटकर दम तोड़ रही थी, जिनमें लोग सोने का बहाना करके

करवटें बदल रहे थे, जिनमें सोये हुए भूखे और बीमार बच्चों के साँसों की कड़ियाँ खुल खुल पड़ती थीं, छोड़ता हुआ, भागता रहा जैसे घुटन का सैलाब बार-बार धक्का मार-मार कर आगे की ओर ठेलता रहा हो। बीच-बीच में कभी-कभी कहीं-कहीं से दुर्गन्ध का पैना नाखून गले में आ अंट-कता, और ऊपर-नीचे के सांसों को आपस में मिलते रहने से रोक देता। 'चूँ चूँ चट चट' की लड़खड़ाती आवाज कानों से टकराती और अंधकार के पर्तों में डूबी काले रंग की भैंसागाड़ी को ढूंढ सकता, 'मेटाफिजिक्स' जैसा लगता।

मैं। शून्य के कुहासे से लिपटा हुआ मेरे दिमाग का यन्त्र। खचड़ी साइकिल के पैंडल की टीसती-सी आवाज का भैंसागाड़ी के ढुलकते हुए ढीले चक्करों की भारी, 'चूं-चूं चट-चट' की आवाज में खो जाना। पहियों का गड्ढों में धँस कर बैठ जाना, मेरा जोर मारना, उनका आगे बढ़ने से इन्कार करना, खिझलाकर मेरा और जोर मारना, और फिर पैठल की टीसती-सी आवाज का पसीना की तरह छूट पड़ना 'कितनी ज्यादती है।" "हाँ। फिर भी चलना है।" मेरे होठों का ऊपर की ओर तनाव। यह सब जाने कितनी बार हुआ। साइकिल लोमड़ी की तरह भागती रही। छोटे-बड़े खूबसूरत-बदसूरत घर, मंदिर-मस्जिद, दुकान, स्टेशन, तार-घर, पावर-हाउस पीछे छूटते गये। रात कटती गई। जिन्दगी का ताजा और सफेद कमल अंधकार के पानी के ऊपर सर उठाने लगा।

लोहे के घेरों से लगाकर साइकिल 'लॉक' कर दी और आमने-सामने की बेंचों पर फैलकर इतमिनान से सिगरेट सुलगाई, खुले हुए आसमान की ओर देखा, जहाँ सितारे ओस के कणों की तरह होती हुई सुबह की रोशनी में छलछला रहे थे। दूर दूर तक पार्क में फैली फूलों की क्यारियाँ, पेड़, ठिठका प्रेमी-सा मोही अंधियारा...ठंढक...शान्ति।

कोई झकझोरता हुआ कह रहा था, 'ऐ साहब। उठिए, सुबह हुई।

"बड़ा लाजिमी है।" मेरे मुँह से निकला, और आँख खोलते-खोलते

मैंने महसूस किया कि सामने की बेंच पर कुछ आदमी बैठ चुके हैं। जगाने वाले को मैंने गौर से देखा। सुबह टहलने के लिए उसने एक ढीली सफेद कमीज पहन रक्खी थी, और वैसा ही पतलून। शिकनदार चेहरा हाथ में छड़ी। आदमी रिटायर्ड मालूम पड़ता था। सामने बैठे लोगों की ओर नजर उठी, वे कल रात हुई एक चोरी का जिक्र कर रहे थे। कोई खासता था कोई खखारता था। अपने जगाने वाले आदमी की ओर मैंने फिर देखा, सामने बैठे विभिन्न पेशों से रिटायर्ड इन आदमियों का वह 'बॉस' लग रहा था। शायद इसी लिए अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने के लिए मुझसे बेंच खाली कराई जा रही थी। मैं भुन सा गया। इसके लिए तो मुझे उठना ही नहीं चाहिए था।

पैनी दृष्टि से देखता हुआ वह बोला "हम लोग यहां बैठते आये हैं।"

"शायद बाप-दादों के जमाने से।" मैंने कहा, और सिगरेट सुलगा ली।

'यहाँ आप सिगरेट नहीं पी सकते।' उसने एतराज किया और लहजे में इस बात की बू थी, जैसे उसकी परवरिश हिलटर, मुसोलिनी, हिदरहिटो, और चर्चिल के जमाने मे हुई हो।

उल्लू के पट्ठे को मैंने ही बैठने की जगह दी, और अब मुझसे ही अँकड़ रहा है। मैंने कहा, "एतराज हो तो दूसरी बेंच पर चले जाइए।"

"आपको जाना पड़ेगा।" प्रतिहिंसात्मक ढंग से उसकी आँखें चमकीं।

मेरा जवान खून जोर से चक्कर काटने लगा। ऐसा लग रहा था, जैसे बहुत ही संयत और शान्त होकर मैं उठकर उसकी कमर तोड़ दूंगा, और इसके साथ ही उसकी जिन्दगी के तमाम Second Hand अनुभवों की कमाई को, उसकी झूठी इज्जत की कब्र को, और उसकी सफेद पोशी को पैरों तले रौंद-रौंद कर मिटा दूँगा।

' एक दूसरे सज्जन बीच में आकर बैठ चुके थे। बोले, "Personally I wont mind" कमबेशी आदमी वैसा ही था, लेकिन शायद जवान बेटों ने उसे अपनी जिन्दगी को इस नये धरातल पर लाकर स्थिर करने के लिए मजबूर कर दिया हो।

जी हल्का हुआ, तो साइकिल खोलकर चल पड़ा। सुबह की सड़कों पर जिन्दगी वह निकली थी। धक्के खाकर रेस्ट्राँ की टेबुल के एक किनारे आ लगा। चाय पीकर। सिगरेट सुलगाई। ठण्डे दिल से सोंचा, "लिखना ही चाहते हो न ?"

डायरी खोलकर लिखना शुरू किया—एक कहानी की शुरुआत। बिलकुल नहीं बनी। हल्की और उथली बातें, ढीले वाक्य, विचारहीन, तर्कहीन थोथी दलीलें—शायद इतना ख़राब मैंने जिन्दगी में कभी नहीं लिखा। पन्नों को फाड़कर फेंक दिया। कलम पटक दिया। दिमाग बैठने लगा, "हाय! अब क्या करूँ ? लिखा ही नहीं जाता।"

साइकिल उठा ली। उलझनों का कुहासा इतना सच हो गया था, कि खोई हुई डोर मिलती ही नहीं थी। दिन आया और निकल गया और साइकिल पर भागता हुआ मैं सोंच रहा था, 'शुरू कहाँ से किया जाय। फिर इतनी घटनाओं का उल्लेख करना है, सब किस शैली के माध्यम से आसानी से "कहा जा सकता है ? अन्त किस तरह किया जायेगा... "शुरू करने के लिए कुछ वाक्य दिमाग में आये।

"......यह कहानी उस जमाने की है, जब बम्बई की केबिनट के पिछवाड़े से श्री मुरार जी देसाई घुस आये थे, और एक फिलम-स्टार की स्वतः निर्मित तस्वीर की प्रशंसा करने की गरज से बगल खड़े होकर फोटो खिंचवा रहे थे, जब मद्रास में अकाल पड़ रहा था और महराज राजाजी धिराज चश्मा के भीतर से आंखें मुलमुलाकर कह रहे थे, हम बड़े पापी हैं। अकाल इसी पाप का परिणाम है। भगवान से प्रार्थना करो...' जब पंडित जवाहरलाल जबलपुर में एक प्रदर्शन के काले झण्डों से ऊबकर

बौखला पड़े थे। जिन्हें साम्यवाद प्यारा हो, वह इस देश को छोड़कर साम्यवादी देशों में जाकर बस जाँय। मुझे कोई एतराज नहीं।'

प्रथम पुरुष में कहानी शुरू करने की सोची, तो लगा, कि कुछ इतनी छोटी परिस्थतियाँ हैं, जिनका प्रथम पुरुष में उल्लेख करने का ख्याल ही तिलमिला देता है, और कुछ परिस्थतियाँ इतनी बड़ी कि उनमे वैयाक्तिक सम्बन्ध जोड़ने में संकोच सा लगता।

सड़कों पर बहती हुई जिन्दगियाँ, सुस्त, ढीली, थकी, हुई सी। स्याह, लम्बे और लटके हुए चेहरों की कतारें, जैसे कब्रिस्तान से लौट रहे हों।

लिखने को तो लिख दूँ लेकिन पढ़ने वाले शुरू में बिजलियों की तरह चमकते हुए वाक्यों की उम्मीद न करें और न अन्त में उल्का-पात की तरह किसी बड़े चरित्र को टूटते हुए देखने की कामना करें, तो लिख दूँ, लेकिन कहानी, स्कैंच, रिपोरताज और जीवनी, मेरा पीछा छोड़ दे, तो, लिख दूँ, लेकिन टेकनीक संस्कृत के तत्सम शब्दों का चयन, लच्छेदार रेशमी भाषा, पलकों पर चलने वाले भोर के सच सपनों की तरह मेरी लिखने की इच्छा को दिन के उजाला की तरह गला घोटकर मार न डाले तो, लिख दूँ, लेकिन कोई कह दे, कि लिख डालो, चीथड़ा है तो चीथड़ा ही सही, कभी जमाने को रास्ता ढूंढने के लिए मशाल की जरूरत पड़ेगी, तब उन मशाल के निर्माण के लिए ये चीथड़े भी काम आ जांयेगे। तो।

सर औंधा कर टेबुल पर बैठे जैसे मुझे देर हुई। भारी सर को ऊपर उठाता हूं तो लगता है जैसे टिक-टिक-टिक-टिक की टर की टर आवाज चारों ओर आकर लिपट गई है और अपने अस्तित्व को इनसे अलग कर सकना कठिन है। आँखों को बहुत फाड़-फाड़कर मैनेजर की टेबुल पर रक्खी टाइम-पीस की ओर देखता हूं तो दस बजकर सात मिनट बजने का संकेत गरदन को मरोड़कर नीचे लटका देने के लिए मजबूर

करती है। मुझे महसूस होता है, जैसे वक्त का मजबूत पैर मेरी गर्दन पर आ पड़ा तो जिसका उठ सकना आसान नहीं।

कितनी गर्मी है। उफ् ! कहाँ जाऊँ ? किससे कहूं ? कि लिखे बिना अब रहा भी नहीं जाता, और लिखा भी नहीं जाता। कितनी तकलीफ है, मैं ही जानता हूं।

छः महीना हुआ......
गाँव के हायर सेकेण्ड्री में मास्टर था।

स्कूल का प्रोपराइटर शिवानन्द सिन्हा कांग्रेसी सन् ५२ में होने वाले चुनाव में लोक सभा की सदस्यता के लिए खड़ा होने वाला था, और इसकी तैयारी दो साल पहले इस स्कूल की स्थापना के रूप में उसने शुरू की थी। हम लोग समझते थे कि शिवानन्द बहरा है, लेकिन कुछ लोग जानते थे कि स्वार्थ की बातों के लिए उसका कान हाथी जैसा है। सड़कों पर जब तक जोर-जोर से हार्न न बजाया जाय, या साथ के आदमी घसीट कर किनारे न लगा दें चौपायों की तरह बीच में अड़ा रहता था। हम लोग समझते थे कि जनता की सेवा में इतना रत रहता है, कि तन-मन की सुधि नहीं रहती लेकिन कुछ लोग मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अन्तर्गत उसका वर्गीकरण, 'एम्बसील' किस्म के आदमियों के साथ करते थे। पन्द्रह अगस्त को नेताओं की तरह बच्चों के बीच आकर भाषण देता था, "साम्यवाद दूसरे देश की सरकार को यहाँ लाने का नाम है।" और दूसरी सितम्बर को अपने स्कूली नुमाइन्दों से पूछता, "तनख्वाह देने के बाद कितना बचा ?" और मुझसे कहता था, "बिहार के नंगे और भूखों पर जो गोलियाँ चली हैं, उसका जिक्र क्लास में न किया करो।"

स्कूल छोड़कर ए० जी० आफिस में आने से पहले सोरांव में होने वाली मतदाताओं की सभा में पं० जवाहरलाल को बोलते सुना था, "कांग्रेस, समाजवाद, और साम्यवाद में ज्यादा फर्क नहीं है।" रफ्तार की फर्क को समझते हुए रईसज़ादे ने जो कुछ कहा उसका सारांश यों था कि कांग्रेस खच्चर की रफ्तार से चलना चाहता है, समाजवाद ऊँट की, और साम्यवाद रेलगाड़ी की। लेकिन बड़ा अजब लगा ए० जी० आफिस में आकर शर्मा से 'पोस्टिंग-स्लिप' पाने के बाद जब उसे एक 'फुल-स्केप' कागज का मत्था मोड़ते देखा जिस पर 'सीक्रेट आर्डर' की तरह कुछ अंकित था।

मैंने दोस्ताने लहजे में पूछा, "क्या है, भाई?"

"दस्तखत बनाइए। किसी 'लेफ्टिस्ट पार्टी' को ज्वाइन नहीं कर सकते?" उस ने बहुत Matter of fact ढङ्ग से उत्तर दिया। मेरे रोंगटे खड़े हो गये, "तो यह है, कांग्रेसवाद। यह है ए० जी० आफिस। यह है, एक सौ सैंतीस रुपया जिनसे मेहनत नहीं, भविष्य खरीदा जाता है, जिनसे वक्त नहीं, उजाला खरीदा जाता है!"

दस्खत बनाते हुए मैं कह रहा था, "आज का आदमी या तो बेवकूफ नहीं है, या है, या तो कम्यूनिस्ट है, या नहीं।" उसे बात बुरी या अच्छी कुछ नहीं लगी, उसने समझा मैंने कुछ मज़ाक किया, जिसमें उसका हँसकर शरीक होना बड़ा जरूरी है। उसका हँसना था कि मुझे भी हँसी आ गई। जबान को पान की तरह चबाता हुआ बोला, "क्यों भाई रामराज्य-परिषद में तो शामिल होने की मनाही नहीं है।"

अधिकतर पंजाबियों की तरह शर्मा खुद अच्छा खा और पहन लेने तक सीमित रहने वालों में से था। सो रामराज्य-परिषद का मतलब उसने कीर्तन से लगाया और बोला, "कोई रोक सकता है। धर्मोपासाना में कोई विघ्न डालेगा, तो भगवान तीसरा नेत्र खोलकर ब्रह्मांड को भस्माभूत नहीं कर देगा।"

ऊपर से हँसता हुआ, अन्दर से सोच रहा था, "तो बेवकूफ बने रहने की पूरी इजाजत है।"

बाहर निकला तो शिवानन्द सिन्हा, स्कूल का मक्कार, धोखे बाज और लुटेरा प्रोपराइटर में और जवाहर लाल नेहरू में मूल रूप में कोई अन्तर न जान पड़ा। छोटे-से छोटा कांग्रेसी युनिट और बड़ा-से-बड़ा कांग्रेसी स्तम्भ, सब पॉलीटीशियन आदमी कोई भी नहीं, बड़ा गुस्सा आया छूत की बीमारी को सफेद खादी की टोपी से ढंककर आदमियों के बीच चलते-फिरते रहने वाले इन हैवानीं नुमाइन्दों पर।

सेक्शन में लम्बी टेबुलों की कतारें थीं और इनका बंटवारा करने की गरज से बीच में असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेंट की टेबुल रक्खी गई थी। दरवाजा के पास सुपरिन्टेण्डेंट बैठाया गया था, इस गरज से कि सारे क्लर्कों की वह निगरानी कर सके, उंघने वालों को कोंचकर जगाता रहे, बातूनियों को चुप होकर काम में लगने का आदेश देता रहे, और सरकारी काम होता रहे। लेकिन बिचारा दुबला पतला आदमी, लाखों वाउचर्स की कमर पर लादी, पचासों फाइलों की बेकार सामग्री से भरा हुआ उसका दिमाग, सवाल की तरह हल किए गये सैकड़ों खतों को ब्राँच-आफिसर के डर से पढ़कर दस्तखत बनाने से थकी हुई उंगलियाँ—सबने उसके चेहरे पर बरसो की बीमारी की एक मुहर लगा दी थी और बेचारा रोज-रोज, सप्ताह-सप्ताह, महीना-महीना, जीता जाता था। आवाज जैसे वाउचर्स की कफन में लिपटे हुए मर्दा अंक, ऊबी, थकी, पतली और क्षीण। आँखों की रोशनी जैसे पचास साल पहले की लिखावट। वातावरण में इन्सानी ताकत के सड़ने की दबी-दबी सी महक। शोर, बेहतरीब शोर, बेमानी शोर, पेशेवरों का शोर, जिसमें घुलने वाली हर आवाज की अपनी शकल, हर आवाज का अपना घेरा, हर आवाज की अपनी मांग। रिटायर्ड होने वाले क्लर्कों की गमगीन, उदास, ढली और उतरी सी आवाज, अधेड़ क्लर्कों की भारी, अनुभवी, दम्भी, पथरीली, हीन और व्यंगात्मक

आवाज, दिन-दिन पुराने पड़ने वाले क्लर्कों की सूखी, सहमी, और समझदार आवाज, नये भरती होने वाले क्लर्कों की लड़ाकू आवाज, सुपरिन्टेण्डेटस, और असिस्टेण्ट्स की चाबुक जैसी पैनी, दुबली, लम्बी, आवाज जिसकी गाँठें ब्राँच-ऑफिसर, डी० ए० जी० और ए० जी के 'ब्यूरोक्रेटिक' दिमाग की गुठली से बधती थी। 'पोस्ट-आडिट' के बदामी सफेद शिडीउल और वाउचर्स—रद्दी, पुराने और उधड़े हुए कागज—फर्श पर, आलमारियों के खानों-खानों में, ऊपर-नीचे, टेबुल पर, टेबुल की ड्रारों में, कुर्सी के नीचे, पाँव के पास—ऐसे भरे हुए कि फेंकी हुई सांस लौटकर फिर नथनों में घुस जाय। धड़ तक बादामी, सफेद और मटमैले शिडीउल और वाउचर्स के तालाब में डूबे हुए, कुर्सियों से ऊपर, निकले हुये बाबुओं के चेहरे, जिनपर हर साँस के टूटकर वाउचर्स और शिडीउल हो जाने का डर, 'रिस्क' से दूर भागने की कायरता, रोजमर्रा की बाहर-भीतर की घुटनों की मंडलाती हुई छाया, फिर भी पहली तारीख के ख्याल का इन सबके बीच, संतोष का एक छोटा गड्ढा, इन सब पर लिपटी हुई पीली मलगुजा घिनौनी, संतोष की झिल्ली।

मुझे मेरी जगह बता दी गई थी, और मैं अपनी कुर्सी में इस तरह सिमट कर बैठ गया जैसे कहीं सेक्शन के Post-audit के चिथड़े अंक सड़ी अंतड़ियों की तरह फैले हुए कागज, हर आवाज की भिन्नता, सुपरिन्टेण्डेट की चाबुक जैसी आवाज मुझे छू न जाय।

सिगरेट सुलगाई, और वातावरण से अपने को अलग करने की चेष्टा में श्रम और संघर्ष से श्लथ होकर कुर्सी में डूबने लगा।

ओसों के छागल का छन-छन बिहाग के गीतों सा पल-पल दूर होता जा रहा था। सरसों और मटर के पीले और कासनी फूल फूलने लगे थे। जाड़ें की सुबह से लिपटी हुई ठण्ढक, पूरब के झरोखे से फूटने वाली पोली-पीली धूप से मिलकर रेशमी शाल की तरह फिजां से लिपटती जा रही थी। बड़ी ज़ोर से पटक कर साइकिल रखने की आवाज कानो

से टकराई और मेरे एहसास के फूलों की पंखुरियाँ बिखर गईं। चाय के अधभरे प्याला से निकलते हुए गरम उसासों को प्यार से सहलाता हुआ बाहर निकल आया।

एक रीछनुमा मोटा आदमी धनीधर के घर में ठाकुर बजरंग सिंह की ओसार में तेजी से चक्कर काट रहे थे माथे पर चन्दन का टीका बदन पर सफेद कपड़े। मुंह में कई गिलौरी पान। सर पर गांधी टोपी। खड़ी चारपाई को कच्ची जमीन पर पटक कर यह कहता हुआ बैठ गया, 'बजरंगियाँ, अबे निकल! गरीब, दुकान की कमाई इतनी हो गई कि अब मेरे आने पर भी घर में बैठकर पूड़ी पोई जा रही है।" फिर अपने आप "आज इन सबका मामर हेट कर दूंगा।"

मुझे प्रेमचन्द याद आये। जी ममोसने लगा। आंखें भर आईं, "बापू! देख सूदखोर अब भी बने हैं, फर्क इतना है कि सर पर गांधी टोपी ओंधा ली है, साईकिल पर चढ़ने लगे हैं, कीर्त्तन कराते हैं, और राम-राज्य परिषद को वोट देते हैं, हजारों होरियों की सूखती हुई ठठरियों पर सरमायादारी का हदश और डर वैसे ही चल रहा है, फर्क इतना है कि जमींदारी उन्मूलन का शोर होने लगा है, पार्लियामेंट में बिल पास होने के लिये बहसें छिड़ी हुई हैं फर्क इतना ही है कि ५२ के 'एलेक्शन' के खतम होते ही ५७ के एलेक्शन की तैयारी को छिपाकर भोले-भाले निरीह और निस्सहायों के बीच में विनोबाभावे घूमने लगे हैं. ..बापू! ऐसे में निपट अकेला छोड़कर चले गये...।"

किसी ने कुर्सी के पीछे से कंधों का स्पर्श किया, "मिस्टर श्रीश। कैसा लग रहा है?" आवाज में इतनी आत्मीयता थी कि सभ्यता की चादर लपेटनी पड़ी। मुस्करा कर बोला, "जी अच्छा लग रहा है, नया माहौल है न?"

"हाँ, धीरे-धीरे सब ठीक हो जायेगा।" उन्होंने कहा, "आइए आपको थोड़ा काम समझा दूं।"

चुपचाप आकर उनकी टेबुल पर बैठ गया। टूटे हुए काले, और घिनौने दाँतों के बीच में पान की कीट जमा थी, और बोलते वक्त थूक के छींटे मेरे मुँह पर पड़ रहे थे,..."ट्रेजरी से शिडीउल और वाउचर्स चेक्स और चालान दो instalments में आते हैं फर्स्ट लिस्ट और सेकेण्ड लिस्ट। अपने सेक्शन में फर्स्ट लिस्ट, पहले सप्ताह में, और दूसरा लिस्ट दूसरे सप्ताह के आखीर तक आ जाते हैं, फिर आडिटर Cash Accounts और List of payment से इन वाउचर्स के अंकों को मिलाकर हर सेक्शन में पहुँचने वाले शिडीउल और वाउचर्स को आलमारी के खानों में डाल देता है।"

"मुझे हँसी आ गई। वह भी हँस पड़े, बोले, "समझ में नहीं आया ?"

"जी नहीं, सोच रहा हूँ, कि पाने वाला रुपया पा लेता है, देने वाला रुपया दे देता है, फिर उन अंकों की शव-परीक्षा जैसा बेकार काम हम लोग क्यों करते हैं ?" मैंने कहा।

उत्तर में इस बार उन्होंने मेरे मुँह पर जरा ज्यादा थूक दिया और आडिटर्स की जिम्मेदारियाँ समझाने लगे,... "अर्थ साम्राज्य के आडिटर्स पुलीस होते हैं, उनका काम बड़ी Shrewdness का है, उनको अपने पेशे की इज्जत का एहसास होना चाहिये, तभी वह Enbezz-elment पकड़ सकते हैं।" कहते-कहते उनकी आँखें यों चमकी जैसे उन्होंने Embezzlement पकड़ लिया हो।

टेबुल पर लौटकर सिगरेट सुलगाई तो अनायास-ही उस दिन की याद हो आई जब उन लरजते हुए आज्ञानी, आबोध और भोले हाथों ने मेरी बिदाई करते हुए मुझे माला पहना दिया माथ पर लाल रोरी लगाई, आम और महुआ के पत्तों में रखकर मुझे मिठाइयाँ खिलाई, और अपनी तोतली जबान में अपने अन्धकारमय जीवन का गीत सुनाया, बोलते हुए मुझे वह दिन याद हो आया जब सवाल के पर्चे में एक मूल धन पर सूद

खोरों के सूद की दर से ब्याज निकालने को दिया था, और उत्तर सौ प्रतिशत आया था, मेरा गला हल्के से काँप गया "प्रतिज्ञा करो कि जाँत-पाँत के छोटे-बड़े बन्धनों को तुम तोड़ दोगे, प्रतिज्ञा करो कि अपने बाप की तिजोरियों के मालिक के रूप में तुम कभी सूद पर रुपया नहीं उठाओगे, अनाज पर डेवढ़ा नहीं लगाओगे,....ताकि कहीं रहकर मैं संतोष की सांस ले सकूँ, कि उनके बीच में नहीं हूं, तो न सही, इन सारे बच्चों ने इन्सानी मशाल ऊपर कर रक्खी है, जिनसे गाँवों की अंधेरी दुनियाँ रौशन होती रहेगी।" और सैकड़ों आँखें भर आई थी।

मैं कुंठित-सा बैठ गया और सोचने लगा,..."आज १६ फरवरी है। चौदह पन्द्रह दिनों में दसवें दर्जे के विद्यार्थी घर बैठने लगेंगे! फिर मार्च अप्रैल, मई और जून की तनख्वाह कहाँ से आयेगी? स्कूल के बचे हुए रुपयों से शिवानन्द एक धेला भी नही निकालेगा, तब क्या होगा?..... और गाँव के ये लोग, छोटे, संकरे, तंग रुढिग्रस्त, और गरीब, किसी तरह के सही ख्यालों के लिए चिकना घड़ा, उनकी गरीबी, उनके ईश्वर, उनके जाँत-पांत, उनके सूदखोरों, और जमीदारों पर आये हुए आक्रान्ता विचारों को उनका दुश्मन समझना, न बदलने या बदले जाने के लिये नाखून की तरह सख्त और कड़े,....इनके, और गाँवों में आकर क्रान्ति करने वाले राम राज्य परिषद और कांग्रेस के लोगों के अवसर प्रस्त विचारों के बीच में कहीं पड़कर मच्छर की तरह दब न जाऊँ.....तब क्या होगा?" उस समय मैंने सोचा निश्चय ही ए० जी० आफिस की नौकरी अच्छी होगी, एलाहाबाद में छूटे हुए साथी फिर मिलेंगे, लाइब्रेरी, पार्क सिविल-लाइन्स क्लब, सेनिमा-घर, चाय की दुकानें, बिजली की रोशनी...

रोते हुए बच्चों ने आकर मुझे लारी में बैठा दिया। लारी छूटने वाली थी, और उनके कुंवारे और कच्चे आंसुओं के ज्वार का मुझे उत्तर नहीं सूझ रहा था, हतप्रभ होकर मैंने राधकृष्णानन् 'कोट' किया, "There can be great sorrow without tears."

मतलब यह था कि मेरे आंसू नहीं निकल रहे हैं, तो भी मैं बहुत दुखी हूं। सच तो यह था कि मैं दुखी नहीं था।

क्षण भर को मेरे विचारों की कड़ियाँ खिंचकर तन गईं ! जलती सिगरेट की लपट उंगलियों को चूमने लगी। पलकों को बन्द करते ही मुंह पर दर्द की दृढ़ता छा गई, "राधाकृष्णनन् को 'कोट' करके मैंने उन बच्चों पर कितना बड़ा इल्जाम लगाया। उनके दुख और दर्द पर कितना बड़ा व्यंग किया।"

आखिरी बात जो दिमाग में देर तक भटके हुए मुसाफिर की तरह टिकी रही, वह यह "Can there be great sorrw without tears ?"

ओम्, होस्टल से, आफिस आ पहुंचा था, और सिगरेट को मेरी उंगलियों से खींचता हुआ बोला, "क्यों बे बाबू के बच्चे ! एक ही दिन में इतनी मुहब्बत। छुट्टी हो रही है, इसका भी ख्याल नहीं।"

मैंने असहायों सा उसका कंधा पकड़ लिया, "बुरे फंस गये दोस्त।"

चपरासियों, छोटे बाबुओं बड़े बाबुओं, आसिस्टेण्ट, सुपरिन्टेंडेंट्स, ब्रांच-आफिसरर्स के अंगों से कसकर लिपटा हुआ ए० जी० आफिस का गेहुँआ, और जहरीला अजगर ढीला हो गया। खोइयों की तरह उगले गये लोग साइकिलों और रिक्शों पर चढ़-चढ़कर भागने लगे, एक दूसरे के कंधों को छीलते, शोर करते, आफिसरान की बुराइयाँ करते, आसिस्टेण्ट्स की बुराइयाँ करते, और अपनी-अपनी इमानदारी, सच्चाई और वफादारी की बातें करते। कुछ पैदल, छातों को ऊपर किये, पैजामा चढ़ाए, पोपले शब्दों को 'फक-फक' बाहर फेंकते आगे बढ़े चले जा रहे थे। कोई एकाकी, अकेला, शान्त और उदास, जैसे थोड़ी देर में हो जाने वाली यह सड़क।

मेरा दिमाग खोखला हो रहा था; शून्यता का पानी इतना ऊपर

चढ़ आया था कि हर सोची हुई बात डूब कर मर चुकी थी। चेहरे पर अवश्य ऐसे चिन्ह आ गये होंगे, जैसे बाप का नाम भूल गया होऊँ।

सिगरेट खरीदा और सुलगाकर पीने लगा। ओम जोर से खिलखिला कर हँस पड़ा। तब मैं चौंका, "क्या है?"

'हो गया बाबू बेटा?"

"हो गया।" मैंने इस निश्चय से कहा कि बात अगर सच हो तो कहीं जाकर डूब मरूँ।

वह आगे कह रहा था, "विचारे कहते हैं कि जब private Econo my बननी शुरू हो जाय, तभी समझना चाहिये कि Isolation कहीं आस-पास छिपा बैठा है और Isolati n के कहीं आस-पास छिप बैठने का संकेत मिल जाय, तो ऐ! मूढ़मते समझ कि clerkdom की सम्पत्ति मुझे मिल गई।"

मैंने हड़बड़ाकर अभी-अभी खरीदी सिगरेट की पैकेट को जेब के बाहर निकाल लिया और उसकी ओर बढ़ाते बेहद शर्मिन्दा हुआ।

ओम खिलखिलाकर हँस रहा था और उसकी हँसी का एक-एक टुकड़ा मेरे गालों पर तमाचों की तरह पड़ रहा था। आखीरकार चुप्पी बर्फ़ की तरह हमारे बीच जम गई, और हम सर लटका कर चलते रहे।

उस समय इलाहाबाद में लोग सड़कों पर डर-डरकर चलते थे, जाने किस वेश में कोई साहित्यक मिल जाय। यों दो प्रमुख साहित्यिक संस्थाएँ थीं। एक अपने को प्रगतिशील कहती थी, और लोगों की बेहतरी के लिये काम करना चाहती थी। दूसरी 'परिमल' के नाम से जानी

जाती थी, और शाश्वत साहित्य का निर्माण करना चाहती थी। प्रगतिशील लेखक-संघ कला को समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म, दर्शन के नवनिर्माण के लिये उपयोग में लाना चाहती थी। परिमली बन्धु कला की उपासना कला के लिए करते थे। विद्वान आलोचक 'आस्कर वाइल्ड' के शब्दों में कहा जाय तो निरर्थक वस्तुओं का उत्पादन करके लोगों के दिमाग में भ्रान्तियाँ फैला रहे थे। प्रगतिशील लेखक संघ आर्थिक टूटन, गरीबी भूख और युद्ध के खिलाफ आवाज बुलन्द करती थी, और साम्यवाद को इन सबका एक हल मानती थी, परिमली बन्धु व्यक्ति को महत्व देते थे, और जिन्दगी की विवशता, बेबसियों, और घुटनों के कारणों को व्यक्ति के अन्दर ढूँढ़ने की कोशिश करते थे। इस तरह से प्रगतिशील लेखक-संघ को प्रेमचन्द, निराला' यशपाल, नागार्जुन और डा० विलास के साहित्य के सृजन का श्रेय था और परिमल को प्रसाद पन्त महादेवी, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय सबके साहित्य को Patronise करने और निराला को पागल बनाने का। मालूम नहीं 'परिमल' ने विचारे कुशवाहा कान्त, प्यारे लाल 'अवारा' और नरसिंह रामशुक्ल की लिखी हुई चीजों को इतना महत्व क्यों नहीं दिया। ये विचारे भी तो किसी दलबन्दी में शामिल नहीं हैं कुछ नहीं चाहते, सबके कला-कृतियों को पसन्द करते हैं। शायद इसलिये कि उतने पढ़े-लिखेनहीं हैं, या मुश्किल शब्दो का इस्तेमाल नहीं कर सकते ? या कुछ ऐसा नहीं कह सकते, जो आपकी समझ में न आये ? कुछ हो परिमली बन्धुओं ने मेरा काम बड़ा मुश्किल कर दिया। वह प्रेमचन्द जयन्ती भी मना लेते हैं, और निराला की 'परिमल' पुस्तक के नाम पर संस्था भी चला रहे हैं। काश ! कि उन्होंने 'आवारा' से लेकर 'अज्ञेय' तक का संघ बनाया होता, तो मेरे आक्रमण और चोट और तीखे, और पैने, और तेज हो पाते। क्या कहूँ उनसे, जो विचारे व्यक्ति और बड़प्पन के बोझों से दबे हैं।

सिद्धान्तों के अतिरिक्त दोनों दलों की वास्तविकता कुछ दूसरी थी। प्रगतिशील-लेखक संघ में आमतौर से ऐसे लोगों का जमघट रहा करता

था, जो स्वयं बहुत बड़े व्यक्तिवादी, घमण्डी और छिछले हुआ करते थे, लेकिन साम्यवाद का नारा दिया करते थे, नई चीजों, नये लिखने वालों को भरसक दबाकर उपेक्षित करने की चेष्टा करते थे और नवीनता की आवाज बुलन्द करते थे, स्वयं साटन का लिहाफ इस्तेमाल करते थे, सर्ज का सूट पहनते थे, कारों पर चढ़ते थे, और मजूरों की जिन्दगी को कहानियों में बयान करना चाहते थे, स्वयं संकुचित, विचारहीन, सिद्धान्तहीन होते थे और दूसरों पर दोषारोपण करते थे। नतीजा यह हुआ कि नारे बाजी रह गई, साहित्य का प्राण निकल गया। सिद्धान्तों की पंखुरियाँ जन-जीवन के आधार पर फैली नहीं, बल्कि व्यक्तिगत् कुंठाओं से प्रतारित हो सिकुड़ने लगी। साहित्य की सुगन्धि पंखुरियों पर चलकर फिजाँ में फैली नहीं, बल्कि अन्दर ही अन्दर सड़ने लगी। आखीरकार एक जमाना वह आया कि जब प्रगतिशील साहित्यकार 'परिमल' के लोगों को तोड़ने के लिए अपने प्रेसों में नौकरियाँ देने पर आमादा हो गये। बैठकों में निरर्थक, बेसिर पैर की, ऊल-जलूल कहानियाँ पढ़ी जाने लगी, घासलेटी कविताओं को गला फुला-फुलाकर पढ़ा जाने लगा, और आलोचना का महत्व आलोचक के सूट, स्टेटूस और पेशा से आंका जाने लगा। परिणाम स्पष्ट हुआ! सिद्धान्तों का जीवन से समन्वय न होने के कारण, लिखने वालों में से साथी होने का भाव जाता रहा।

और ऐसी हालत में एक तथाकथित प्रगतिशीली जिस तरह से घुट कर अपने ही जिस्म पर पैने दांतों को गड़ो लेता है, शायद कुत्ता भी अपने शिकार के साथ ऐसे बलात्कार की निर्ममता नहीं करता।

परिमली-बन्धुओं की लिखी हुई चीजों को अगर बेमानी और निरर्थक समझकर देखा जाय तो पढ़ने वालों को मजा आ सकता है। नई-नई शैलियों में लिखने का प्रयत्न, सुन्दर शब्द-चयन सुगठित वाक्य, क्या हुआ अगर सामग्री छिछली है, चुराई और मिलाई-जुलाई है। लेकिन इस का सवाल तो उस समय उठता जब दूसरा खेमा इस आरोप से अछूता

होता। सब तरह की चीजों को लिखने की वजह से अखबारों पर उनका कब्जा था, और किसी भी लेखक को महान बना देना, उनके बायें हाथ का खेल होता।

दो साल तक निरन्तर लिखते-पढ़ते और साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते रहने के बाद एम० ए० में साहित्यिकी नाम की संस्था में आकर लिखने वालों की एक जमात बना ली गई। संस्था के उद्देश्य पर माथा-पच्ची करने का कभी सर दर्द नहीं उठाना पड़ा इसलिए कि किन्हीं उद्देश्यों से अधिक हम एक दूसरे को जानते थे।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा मान ली गई थी। चुनांचा उर्दू से 'अस्मत' कृशन, अजीम, वेदी, अब्बास फिराक जाफरी, जोश वामिक, और नियाज की लिखी हुई चीजें हिन्दी-स्कूप में बहती चली आ रही थी और हममें से हर लिखने वालों ने इतनी जगह secure करने की गरज से उनकी समुचित आलोचनाएँ कीं। 'साहित्यिकी' के कवियों को फिराक, वामिक और जोश के सेनिमा के गीत (जवानी जैसे गद्दर अनार) ज्यादा पसन्द आते थे और नई चीजों को वह sectarian निर्जीव और Insincere मानते थे। कहानी लेखकों में कुछ ने वेदी और अस्मत को टेकनीक की सच्चाई, चरित्र-चित्रण और भाषा की रवानी के लिए सराहा, वर्ना आमतौर से इन लिखने वालों पर यह इल्जाम लगाया गया कि कहानियाँ लिखना इनके बूते की बात नहीं हैं। सच्चाई के साथ आपस में विचार-विमर्श किया गया कि साहित्यिकी के कहानी लेखकों को कृशन के पास संदेश भेजना चाहिए कि हजरत को कहानी लिखना बन्द करके कोई और पेशा अख्तियार करना चाहिए। आमतौर से ये कहानियाँ ढीली, बे सिर पैर की और बेमानी लगतीं। न कहीं शुरूआत न कहीं आखीर, अब्बास की चीजों के सम्बन्ध में आम राय यही थी।

लेकिन बड़ी अजीबोगरीब बात यह थी कि साहित्यिकी के कहानी लेखक आमतौर से फिराक, जोश, जाफरी, वामिक और नियाज की नई कविताओं

को बहुत पसन्द करते थे और कवि, उर्दू की कहानियों को। शायद इसलिए कि कहानी लेखकों को कवियों से कोई डर नहीं था और कवियों को कहानी लेखकों से। यों जो कविताएँ और कहानियाँ दोनों ही लिखा करते थे, उनके सम्बन्ध में निर्णय बड़ा आसान था। कवि उन्हें कहानीकार मान लिया करते थे और कहानीकार उन्हें कवि। और दोनों उन्हें कुछ नहीं।

हिन्दी में बड़े-छोटे गीत, काव्य, महाकाव्य, कहानियाँ, लम्बी कहानियाँ, नाटक, छोटे उपन्यास और मोटे उपन्यास लिखे जा रहे थे। प्रगतिशीली और शाश्वतवादी दोनों ही तरह के लेखक कमर कस कर लिख रहे थे। साहित्यिकों के कहानी कारों के लिए यशपाल आधे से ज्यादा out of date हो चुके थे। प्रगतिशीलियों के खेमा में दूसरा कोई बचता नहीं था और अगर था, तो उसके पास न matter था, न manner बाकी बचे शाश्वतवादी सो उनके प्रचारों के लिये बड़े बड़े यन्त्र थे। मसलन, रेडियो, बिरला, डालमियां और कांग्रेस सरकार के कभी न बन्द होने वाले अखबार। बड़े-बड़े ओहदों पर थे, अगर ओहदों पर नहीं थे, तो बहुत अच्छे कपड़े पहनते थे, थोड़ा बोलते थे। काफी कुछ हमारे लिखने के प्रकाशन का भविष्य इनके हाथ में था। इसलिए इनकी रचनाओं पर हम जरा सम्भल कर राय देते। मसलन 'शेखर' पर लोगों की मुखतलिफ राय थी। कुछ को पहला हिस्सा अच्छा लगा कुछ तो दूसरा। व्यक्तिगत रूप से मैं उसे कभी न पढ़ता, अगर विशारदों और साहित्यिक अभिभावकों ने मेरे साहित्यिक ज्ञानार्जन के लिए आवश्यक न बताया होता, अथवा, उसकी इतनी तारीफ न होती। दोनों हिस्सों को पढ़ने के बाद लगा, जैसे तम्बाकू का जड्डा के दो ढेर हों, जिनका उपयोग समालोचना-साहित्य के डाक्टर दंत-मंजन बनाने के हेतु ही कर सकते हैं। ओम प्रकाश की भी यही राय हुई और कमलेश्वर की भी और एक रेस्ट्राँ में जाकर चाय की प्याली पर हम लोगों ने कसम खाई कि भविष्य में हम कभी अज्ञेय नहीं

पढ़ेंगे । जोशी जी के सम्बन्ध में बातचीत करना कुछ पिछड़ेपन का सबूत देता था इसलिए उन पर किफायत से बातचीत हुई । जोशी जी को क्या पढ़ा जाय फ़्रायड ने तो सब कुछ लिख ही दिया । सो हम लोग कभी कभी फ़्रायड पढ़ लिया करते थे । अश्क इतना Subtle था कि हमारी आलोचना की पकड़ में आता ही नहीं था । भगवती बाबू के सम्बन्ध में सोच गया कि उनको लिखने की क्या ऐसी उजलत है ? न लिखें तो बच्चे भूखों तो मरेंगे नहीं ?

उस वक्त तक निश्चित रूप से निराला पागल हो चुके थे, पन्त जी ऐसा कुछ लिख रहे थे, जो हमारी समझ के बाहर था बच्चन के रूमानी गीत घिस चले थे, रामकुमार वर्मा के सम्बन्ध में आखोरी राय स्थापित हो चुकी थी कि He is In capble of writing any thing. बचीं बिचारी महादेवी वर्मा और विचारे राहुल सांकृत्यायन । सो देवी जी अपने आप खामोश हो चुकी थीं । यों यदाकदा अगर कभी कोई भटका हुआ साहित्यिक हमारे बीच आ कर महादेवी के गीतों में अध्यात्मवाद और बुद्ध-वाद खोजता तो सविनय निवेदन किया जाता कि हाँ, यह खोज का विषय है । राहुल-साहित्य, हममें से जाने क्यों न तो किसी ने पढ़ा था, न आगे इरादा करता था । कमल कहा करता था कि राहुल-साहित्य लाइब्रेरियों में खूब जाता है । और ओम कहा करता था, 'हाँ, वहीं रक्खा-रक्खा classie हो जायेगा ।"

इस तरह से सभी ओर से निर्भीक और निर्द्वन्द होकर हम लोगों ने और बड़ा शाश्वत साहित्य लिखना शुरू किया । सभी मध्यम वर्गीय परिवार से सम्बन्धित थे, लेकिन थोड़ा-बहुत रहन-सहन का फर्क जरूर था । उदाहरण के लिए कमल के कमरे में गद्दावार सोफा सेट था, इनके पिताजी का पुराना प्राइमस था । चाय पीने के लिए अच्छी क्रॉकरी थी । आलमारियों पर भीने आसमानी कर्टनस के पीछे मंहगी मोटी किताबें थीं । मेज पोश चादर, बेडकवर यों रोज़-रोज़ बढ़ते जा रहे थे । 'ब्रुस-शू' के अलावा

फालतू और जरूरी जगहों पर जाने के लिए 'सुन्दर स्लिपर' थी। बक्स में भरे कपड़े, जिनमें कुछ शौकीन। शलभ का कमरा बड़ा और हवादार होने के साथ-साथ शरीफों की वस्तियों के बीच था। कमरे में किराये पर लाई पलंग, कई कुर्सियाँ, कारपेट, बड़ी काम करने की टेबुल, और चाय की टेबुल थी। हल्के गुलाबी रंग का Light s ader, 'कैप्स्टन' सिगरेट की टिन, as tray, नीला तौलिया, तकिया के खोल जिन पर sweat dreams लिखा होता, दिखलाई पड़ते। उसके कपड़े आमतौर से हल्के, खूबसूरत फूलदार और कीमती होते। अजित साहब के कमरे में आँखें साँटन के लिहाफ पर पड़ती। फिर पुराने संदूक पर जिसमें अच्छे, सस्ते, और कीमती कपड़े रहते। फिर टेबुल पर ढेर की ढेर मोटी-मोटी लाइब्रेरी की किताबें, फाइल, बड़े-बड़े कौड़े, पेपरवेट, कई कलमें और गोला शीशा। हर खिड़कियों पर कर्टन। कई जोड़े जूते और चप्पल कई मेजपोश, और तकिया-खोल। रामचन्द्र चतुर्वेदी के कमरे में तरतीबकी विशेषता थी। वाॅल-पेग पर कपड़े मिलेंगे। 'रेक' में किताबें, टेबुल बिलकुलसाफ। बिस्तर पर एक शिकन नहीं। जूते सुराही, बरतन, टेनिस का रैकेट, पालिश की डिब्बी, शेव का सामान तेल की शीशी सब अपनी जगह पर। राज ने युनिवर्सिटी से दूर एक Congested मुहल्ले में मकान ले रक्खा था। मकान में घुसने के पहले एक अंधा गलियारे से होकर गुजरना जरूरी था। सामने रसोई घर जिसमें ढुलके हुए बरतन, जूठन और रोटियों के टुकड़े। आँगन की दाहिनी ओर का बिना खिड़कियों वाला एक कमरा, जिसमें टूटे-फूटे सूटकेस, मैले कुचैले कपड़े, मुर्चा लगीं कनस्टरियाँ। छत पर कमरा। जिसमें कई आलमारियाँ। सामने खुली आलमारी में हर कक्षा में पढ़ी हुई कोर्स की किताबें। भंडरिया में भरी पुरानी मैगज़ीनों और अखबारों का ढेर का ढेर। मोटा-सा पुराना गद्दा फर्श पर लेटा हुआ, और उस पर पड़ी हुई मैली-सी चादर। एक दीवाल पर जाड़े का स्लेटी पैण्ट अखबार के वॉल-कपर के सहारे टंगा। लिखने के लिए एक चौकी। इन सबके बीच में सहसा,

सिकुड़ा, डरा-डरा सा शिष्ट, दोहरा और बदसूरत उसका भाई। कमलेश्वर अपने भाई के परिवार के साथ रहा करता था, चुनांचा बैठक तक ही हमारी पहुँच होती थी। कमरे तक कभी पहुँचने की नौबत नहीं आई। मालूम नहीं उसका अलग से कोई कमरा था भी या नहीं। यों बैठक जीता-जागता-सा, सजावट के नाम पर आलमारियों के ऊपर रक्खे बच्चों के कुछ पुराने और बेकार खिलौने। कैलेण्डर, दीवालों पर मढ़े हुए विज्ञापन के तैल चित्रों की काटिंगस। कहीं एकाध गांधी-वांधी जी की तस्वीर।

वीरेन्द्र के कमरे को देखने से लगता था कि अभी हाल ही में उसने कलाकारों के यहाँ आना-जाना शुरू किया है और रहन-सहन का Pattern वैसा-ही बेढंगा बनाना चाहता है। सितार कीमती चीज थी, चुनांचा, उसकी इज्जत की गई और कोने में हिफाजत के साथ रक्खी गई थी। अलावा सामान, ढेर-का ढेर इधर-उधर बिखरा दिखलाई पड़ता। वीरेन्द्र जैसे इस तरह की setting में रहने के लिए, अपने को साध रहा हो। ओम को तकरीबन तीन-चार महीनें बाद होस्टल में कमरा मिला था। कमरे का पार्टनर जरा ब्रह्मचारी था, इसलिए भोर में ही उठकर हलुवा बनाता और खा जाता और सात बजे जब ओम चाय के लिए शक्कर माँगता, तो कहता पार्टनर, शक्कर तो कल से ही खतम है, जब वह कहीं से माँगकर ले आता, तो शिरकत फरमा कर उसे अनुग्रहीत करते। कमरे में ओम के हिस्सा पर नजर जाते ही लगता जैसे रहने वाला, इन चीजों से अपना कोई सम्बन्ध दिन के उजाला में नहीं रखता। गर्द से भरी निखरहरी टेबुल। टूटा स्टोव। एक आलमृ नियम का डब्बू। छोटा लोटा। पुरानी खचड़ी-सी, बेहया, चलती रहने वाली साइकिल। मलगुजा, दुबला, ठठरियोंदार बिस्तर। 'पेग' पर टंगा हुआ, बोरियों जैसा काला कपड़ा का बना हुआ जाड़े का कोट और Solitary खाकी पतलून। ढूंढ डालिए संदूक, और नहीं मिलेगी

अगरचे कि है। उसमें क्या है. ओम साहब खुद निश्चित होकर कुछ नहीं कह सकते। यों मैं जानता हूँ, इसमें हजार-पाँच-सौ Hand-prints, एक अलबम, दस-पन्द्रह Negative तीस-चालीस खतों का एक संग्रह, एक नोट-बुक, चार-पाँच, जरूरत, से ज्यादा छोटे या बड़े कपड़े हैं। दो साल तक निरन्तर एक-ही छात्रावास में रहने से हासिल जो हक था, उसी के सहारे मै अजित के कमरे में टिका हुआ था। यों प्रिंसपल ने कभी उस सभ्यों की जगह को यतीमखाना बनाया जाना पसन्द नहीं किया। हज़ार कोशिशों और नेक इरादों के बावजूद भी कभी मैंने फीस नहीं चुकाया। जहाँ तक मेरी चीजों का सवाल था, एक तकिया-खोल थी जिसमें फटे-पुराने कपड़े, कोट, नॉरमन-सीरीज के दो-तीन जासूसी उपन्यास थे, जो कमल की आलमारी के उपर वाले खाने में फेंका हुआ था। कमल का ही छोटा-सा एक संदूक था, जिसे इस्तेमाल करते-करते मैंने अपना बना लिया था। इसमें मेरे खत, लिखी-छपी, पुरानी-नई चीज़ें, भरी थीं, सोने के लिए कहीं सो रहा। बिस्तर और जगह की कोई पाबन्दी नहीं थी। कपड़े कभी कमल के, कभी अजित के इस्तेमाल कर लेता था, कोई पाबन्दी नहीं थी। यों अजित कभी झुन्नाता, तो उसे समझा देता, देख भाई, कपड़े कहीं आसमान से तो टपकेंगे नहीं, 'समाज' में कहानी भेजी है, पैसे आते ही इस बार कपड़े जरूर बनवा लूंगा। इनके अलावा मेरे पास एक कलम थी, जो लपरवाही से खोती रहती थी और अत्यधिक स्नेह के कारण मिलती रहती थी।

कमरों के फर्कों की तरह उनमें से निकलने वाले चेहरों में भी भिन्नता थी। कमल के चेहरे पर सतर्कता थी, और राज के चेहरे पर बेवकूफी की स्पष्ट छाप। वीरेन्द्र और रामचन्द्र चतुर्वेदी के चेहरों पर शौकिया साहित्यकार बनने का लोभ! अजित और कमलेश के मुलायम और सांवले-चेहरों पर दर्द फैल रहा था। ओम के चेहरे पर फैला हुआ दर्द सूख चुका था, और स्वार्थ की खोल के अन्दर एक दृढ़ता, अविश्वास,

लड़काकापन, के चुपचाप सड़ते रहने की बात स्पष्ट थी। मेरे चेहरे पर continued emotional life के संघर्षों में नित नई-नई हारों का मुकालबा करते-करते एक लापरवाही, उपेक्षा थकान, ऊब और टूटन अंकित था। और इन सब को लिखने वाले की हैसियत से possess करने का एक घमण्ड।

चेहरों के फर्कों की ही तरह आवाज, स्वभाव, बात-चीत के प्रिय विषय, किताबों की पसन्द, समझदारी, अनुभूति और विचारों की अभिव्यंजना के माध्यम में भी फर्क था। उदाहरता के लिए, कमल बच्चन के गीतों की नकल पर धड़ुल्ले के साथ गीत गढ़ता चला जा रहा था। व्यवहार में कांइयाँ था और मींटिंग्स में बैठकर किसी को सभापति चुनवाकर उसकी इज्जत बढ़ाता, और इस तरह अपने को महत्वपूर्ण बनाता। किसी के विचारों, अच्छी कहानियों, और कविताओं को भी मारे स्पर्धा और डाह के उपेक्षा के कोने में ढकेलने की कोशिश करता। क्योंकि चाय पिलाता था, इसलिये अच्छी कविताएँ लिखता था। नामी-गिरामी साहित्यकारों से सम्पर्क बनाने के लिये, कितना गिर पड़ना पड़ता है, इसका बिना ख्याल किये, पेशे में रत, क्योंकि 'गिर पड़ने' का उसके लिए कोई मतलब ही नहीं था। अजित से उसे बड़ा स्नेह था, इसलिए उसके एकान्त के क्षणों में समझता कि किस तरह से इस संस्था का सेक्रेटरी होकर, हिन्दी डिपार्टमेंट के रीडर की चापलूसी कर सकता है, और इम्तहान में ज्यादा नम्बर ला सकता है। राज कवि था, शायद पढ़ने वाले इस वाक्य का मतलब गलत लगा लें। मेरा मतलब है कि राज कविता को जिन्दगी से अलग, शौक ज़ायका, आराम व्यक्ति गत रूप से किसी अनजांने दुखके लिए दुखी होकर सुखी होने को समझता था। उसका कवि होना, उसके व्यक्तिगत जीवन में खुदरे रेजगारियों की तरह चलते रहने में बड़ी मदद पहुँचाई थी। चुनांचा कवि था। एक शास्त्र वादी परिमली साहित्यिक के पास उसे कुछ काम मिल गया था, इसलिए

कवि होने के साथ-साथ शाश्तवादी था। गरीब तो था, लेकिन समाज सरकार, रुढ़ि, ईश्वर और छोटे-बड़े इज्जत आबरू के नागफनी के काँटे उसे परिमली शाश्वतवादी की दया के परिमाण स्वरूप गड़े नहीं और अवसत बुद्धि का आदमी था, इसलिए अपने गरीब कुंठित और बेमानी दिमाग वाले आश्रयदाता का बोझा ढोने में कभी घुटन नहीं महसूस करता था। कभी-कभी उधार लाये शब्दों और व्यवहारों को इस पैमाने पर इस्तेमाल करता कि भेद खुल जाता। अजित बेहद खूबसूरत, साँवला और मुलायम। सन् '३६—३७' के रोमांटिक कवियों के साथ लड़कपन से ही रहने की वजह से खोई-खोई सी आँखें। सारी सजावट के बाद, लापरवाही प्रदर्शन के लिए सर को झटके देकर बाल-बिखेर लिया करता था। टाई की नॉट थोड़ी ढीली कर लिया करता था। रहन-सहन और पसन्द में बेहद कलाकार, लेकिन आस-पास के लोगों से अनुमति लेने के बाद। उन सारे कामों को करता जिन्हें पिछले जमाने के अंग्रेजी, अमरीकी और फ्रेंच लेखक करते आये थे, और जिनका उसे ज्ञान था, लेकिन अपने ढङ्ग से। शर्मीला। बेहद Non-offending, गाली दीजिये, तो पहले होंठ कुतरेगा, फिर झटके के साथ 'हूँ' करके एक लम्बी उसास छोड़ेगा और बस। बुरे और अच्छे कामों के लिए सर्वथा योग्य। कराने वाला जैसा कुछ करा ले। लिखता बेहद खराब था, यों कोई-कोई चीज बहुत अच्छी निकल जाया करती थी। बहुत से वादाविवाद के अवसरों पर कोई मत न रखने वाला। रामचन्द्र-चतुर्वेदी आलोचना लिखा करते थे, ऐसा कुछ, जिसके पैराग्राफ के पैराग्राफ किसी-न-किसी अंग्रेजी की किताब से अनूदित रहते, लेकिन चूँकि किसी को इतना मौका नहीं था, कि ढूँढ़कर उनकी चोरी पकड़े इसलिये अच्छे आलोचक थे। ओम उर्दू से हिन्दी में आया था, इसलिए फ्रॉयड के सिद्धान्तों को कभी-कभी बिना किसी कला के कहानियों के माध्यम से Crudly पेश करके लोगों को Shock करता था, कृशन की भाषा उसे मिली थी, इसलिए

हिन्दी कहानियों के पाठकों पर छा जाता था। जल्दबाज हद दर्जे का। साहित्यिकी में आने से थोड़े-सी दिनों बाद फ्रॉयड से कुछ ऐसी चिढ़ सी हुई उसे कि एक बार जब मैंने उसे बताया कि तुम्हारी पिच्छा कहानी का अन्त इलाचन्द्र जोशी Type हुआ है, तो उसने आखीर के कुछ लाइनों को काट दिया। शलभ जी गीत लिखा करते थे, और हम-उम्र गीतकारों के संदर्भ में उनकी रचनाओं को देखने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता था, कि निश्चय ही इन सारे गीतों के निर्माण में सेनिमा के गीतों का बहुत बड़ा हाथ है। मेरे लिये लिखना उस समय तक, मेरा साथी हो चुका था। ऐसा कुछ जिसकी गोद में लड़ने-झगड़ने ऊबने-घुटने और थककर हारा-सा होने के बाद मैं मुंह छिपा लिया करता था। ऐसा कुछ, जो बुद्धि बनकर सदैव मेरे साथ रहा करता था। ऐसा कुछ जो मेरे उपेक्षित और प्रतारित होने पर मेरी अधबुझी आँखों के सन्मुख अमरत्व की झीनी-सी चादर बुन जाया करता था। ऐसा कुछ जो मेरे जीने का एक सहारा बन गया था। ऐसा कुछ था, मेरा वह लिखना ! वह साथी।

बैठकों में जब मैं अपनी चीजों को पेश किया करता था और आमतौर से जब लोग objective criticism के विशारदों का सहारा लेकर उनकी धज्जियाँ उड़ाया करते थे, तब अन्दर-ही-अन्दर कोई आग सुलगा जाया करता था, और मैं दूने वेग से लहककर तमाम objective criticism के विशारदों की विद्वता और सर्वमान्यता की खोल में छिपी असलियत को उधेड़ने लगता था, और मुझसे उम्र में छोटे मुझे प्रतिभा-शाली, बराबर उम्र में कुछ Romantic कुछ Inspired कुछ दम्भी समझते थे। जो बड़े थे अक्सर उपेक्षा करते। लेकिन जाने क्यों न मैं उनकी बातें समझ पाता था, और न वह मेरी। तनातनी की इन्तहाँ के बाद, बात खत्म की जाती, और तब विवशता की पाटों में दबकर मेरे अनन्त अनर्गल-प्रलाप रोने लगते। तभी कोई कानों में

कहता, "जीता जा—जिसका अर्थ था, लिखता जा—और लोग निश्चित रूप से एक दिन तेरी पूजा करेंगे, अपनी करनी पर आप पछताएँगे।" किसी को क्या मालूम था, कि अपनी एक-एक कहानियों के एक-एक चरित्रों से मुझे कितनी मुहब्बत थी, एक-एक घटनाओं का उल्लेख करने के पहले कितना उन्हें जीता था। कभी कोई ऐसी बात लिख जाता, जो स्वतः अनुभव की हुई न होती, तो जाने कितनी तकलीफ होती। लगता जैसे कोई अपराध किया हो। जैसे कोई पाप !

तभी एक दिन अपने एक लम्बे नाटक पर समर्पण लिखा था, "कला रूपी उस अबोध बच्चे के शीश पर इसे एक अश्रु-बिन्दु की तरह समर्पित करता हूँ, जो अपनी आन्तरिक व्यथाओं से पीड़ित होकर रोता है, चिल्लाता है, लेकिन उन्हें भाषान्तरित करने में सर्वथा असमर्थ है !"

तभी एक बार अपनी कहानियों के सम्बन्ध में एक भूमिका लिखी थी, "शाम का धुधलका छा चुका था। मैं अपनी सूनी कोटरी में बैठा, चन्द लाइनों का कसीदा काढ़-काढ़कर तबियत को राहत की आलम में लाने की कोशिश कर रहा था, तभी तुमने चुपचाप आकर मेरी उंगलियों के बीच दबी कलम को खिसकाते हुए कहा, 'चाय-वाय नहीं पीनी है ?' मैंने जाने किन नजरों से तुम्हें देखा कि तुम मन्तव्य भूल गई, बोली, 'क्यों जी, एक बात पूछूँ, बताओगे ? मैंने तो तुम्हारी कहानियाँ पढ़ी हैं, तुम क्या कहना चाहते हो, मेरे तो कुछ पल्ले नहीं पड़ता ! और मैंने हाथ से कलम लेते हुए कहा था, 'यही जानता तो अफसानें क्यों लिखता ?'

तभी एक दिन राज जी की यह कविता साहित्यिकी में रुंधे कंठ स्वर से सुनी।

"लौ मेरी हो दीप तुम्हारा,
जीने का सुन्दर उपक्रम हो..."

वातावरण टूटा तो मैंने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा "गीत स्वान्तः सुखाय है !"

व्यंग तो समझा नहीं, इसलिए बोला, "हाँ और क्या !"

ओम जो हँसते-हँसते पछाड़ खाकर गिरने वाला था, बोला, "बेटा ! तो बिरला-मंदिरों (प्रेसों) में लेकर भटकते क्यों रहते हो ?" "अमरत्व की तलाश में।" कमल ने कुछ इस तरह कहा, मानों यही सवाल उसके सामने आ गया हो। लेकिन उसकी सच्चाई राज पर घूँसा की तरह टूट पड़ी। सब खिलखिला पड़े। राज हतप्रभ हो गया था।

एकान्त हुआ तो उस दिन अन्दर से किसी ने चुपचाप छेड़ दिया. "तुम क्यों लिखते हो ?" 'अमर होने वाली बात' उत्तर में उस दिन कुछ इतनी ओछी, इतनी हल्की लगी कि कई दिनों तक कलम उठो ही नहीं !

एकाएक पचास रुपये पर एक जासूसी उपन्यास बनाने की बात एक प्रकाशक ने की, तो लिखना इस तेज़ी से शुरू हुआ कि सात दिन में डेढ़-दो-सौ सफे लिख मारा। रुपयों के लिए।

फिर तनहाई, बेकारी, Sex-frustration उपेक्षा, निराशा, भुखमरी के सैलाब में डूबने लगा, सांस का उतरना-चढ़ना मुश्किल हो गया।

तो मजबूर होकर कई कहानियाँ लिखीं, 'मौत की परछांइयाँ' 'मौत की तलाश में' 'बहता हुआ दरिया ठहरा' और पैकेट्स बना कर प्रेसों के लिये रवाना कर दिया।

राज मुझे पैकेट बनाते देख रहा था, सो बदला लेने की सोची। बोला, "अब तुम क्यों छपवा रहे हो ?" मैं झुंझलाया था ही, बोल उठा, "छपवाऊँगा नहीं तो खाऊँगा क्या ? फीस कहाँ से आयेगी ? है कोई भेजने वाला ?" लिखी हुई मेरी इन चीजों की असलियत थोड़ी दूसरी

होती। कहानियाँ अक्सर नाम-निशान को सच्ची होती, लेकिन होती छपने वाली कहानियों के Pattern पर ही। जिन्दगी कुछ ऐसी प्रेमचन्द, शरत और बहुत से अन्य समकालीन छोटे-बड़े लेखक, डास्तावस्की, गोर्की मोपाँसा, हार्डी, आँस्करवाइल्ड, गोल्ड-स्मिथ के चरित्रों, और अंग्रेजी-हिन्दी की तस्वीरों से प्रभावित थी कि सचमुच कुछ देख और समझ सकना, मेरे लिए मुमकिन नहीं होता, कोई भी ऐसा अनुभव नहीं होता जिसकी अनुभूति Bookish बना-कर ग्रहण न की जाती, और लिखते-लिखते कहानी न हो जाती। भाषा खिचड़ी होती। कभी बहुत क्लिष्ट, कभी बहुत बोल-चाल की। यत्र-तत्र व्याकरण की अशुद्धियाँ हो जातीं, और रचनाओं के प्रति अतिशय प्रेम होने के कारण, अतिशय दम्भ में Sincerity of creation की दृष्टि, से उन्हें आवश्यक बताता, और कबीर का उदाहरण देता।

गरज़ यह कि जिन्दगी की बहती हुई धार में हाथ-पांव ढीला करके पड़ रहा था, जहाँ ले जाय। सोते-जागते, उठते-बैठते लिखने की धुन, चरित्रों की तलाश, किताबों की सोहबत, कलम का चुम्बन। चिल्लाकर गाता था, और सिगरेट जलाकर खूब धुआँ पैदा करता था। सूक्तियों में बोलता था। बासवेल की जरूरत महसूस होती थी, क्योंकि बड़ा लेखक बनना मेरा अवश्य था।

ओम मेरा कोट पकड़ कर बेरहमी से खींच रहा, "क्यों बे! कॉफी की खुशबू तुम्हें भी आ रही है।"

मैंने उसका मतलब समझ लिया, 'इण्डिया-कॉफी-हाउस की ओर बढ़ते हुए, खिलखिलाकर हँस पड़ा, "ओम! उस रात की याद है, तुम्हें जब एक तस्वीर के लिए साढ़े दस-दस आने वाला टिकट खरीद कर मैं

तुमसे समझा रहा था कि हाल की बत्ती बुझ जाय, तभी अन्दर घुसा जाय क्योंकि 'अपर-क्लास में बहुत-से जाने-पहचाने लोग होंगे, और इसी तरह कोट का दामन घसीटते हुए तुम मुझे अन्दर ले जा रहे थे !"
मैं विह्वल होकर हँस पड़ा। ओम सिगरेट की घूँट गले के नीचे उतार चुका था। हँस पड़ा तो खांसी आ गई।

एक सूनी टेबुल की ओर बढ़ते हुए उसने एक गहरी सांस ली। बोला, 'वह दिन कुछ और था, जब पसीना गुलाब था।"

कॉफी के प्याले भर दिये गये। और फिर उसने मिनट भर को छाई हुई चुप्पी को टुनकी दी, 'तुमने, मेरी कहानी, 'सिर्फ एक प्रेम-पत्र' सुनी है।'

मायूस होकर उसने कहा, "प्रगतिशील पत्र के सम्पादक बिषराय की राय यह थी कि कहानी सब कुछ अच्छी है लेकिन एक बात खटकती है, वही, हिन्दू लड़के का मुसलमान लड़की से ब्याह करना। लड़का मुसलमान होना चाहिए था...।"

मैं तैश में आ गया। बोला, "अहमक कहीं का। आलोचना का यह कौन-सा मापदंड है।"

ओम गांठदार हँसी हँस पड़ा। बोला। "एक मजे की बात सुनाऊँ। आज प्रगतिशील-लेखक संघ की बैठक में एक ऐसी कहानी पढ़ी गई जिसमें बिहार के अकाल ग्रस्त क्षेत्र की एक बुढ़िया मरते वक्त चारपाई से बाहर हाथ लटका कर कहती है, मैं अमरीका से आया हुआ गेहूं नहीं खाऊँगी, रूस से आया हुआ खाऊँगी।"

मुझे बड़ी जोर की हँसी आई, ओम ने साथ दिया, फिर जाने क्या सोचकर एक दम उदास हो गया। 'कॉफी' सिप करते-करते मेरे चेहरे पर भी एक रूमानी उदासी छा गई।

बोला, "इलाहाबाद कैसा लग रहा हो ?"

"जैसे अब इसे मेरी जरूरत न रही हो !" मैंने कहा।

"'साहित्यिकी' की वजह से एक बड़ी Understanding आपस में हमलोगों ने पनपा ली थी। कितना स्नेह था। हर की परिस्थितियाँ हर के सामने, और हर मददगार।"

"इसीलिए तो शायद परिमल वालों ने उसे 'सह-परिमल' के रूप में तोड़ने की कोशिश भी की।"

"......वह बस एक अवसरवादी कमल की वजह से कामयाब हुए।"

"बड़ा दुख होता है। कहीं खड़े होने की जगह ही नहीं।"

ओम हंसा। बोला. "सुना तो होगा ही तुमने, कि सह-परिमल' के रूप में साहित्यिकी' को तोड़ने के लिए प्रस्ताव आने के पहले अपने लोग मिले, और तय हुआ, कि किसी तरह हम 'साहित्यिकी' नष्ट नहीं होने देंगे। युनिवर्सिटी में कुछ परिमली लेक्चरर्स हैं न ? सो उनके सामने पहुँचते ही, उनकी सहृदयता और उदारता देख कर कमल ने बिना किसी से पूछे कह दिया, 'हाँ हाँ मुझे कोई एतराज नहीं है।' उसका कहना था कि कुछ ढुलमुल यकीनों ने भी दी हुई, इज्जत के रूप में शुक्रगुजार होना चाहा..."

मैंने सिगरेट सुलगाई। तो उसने आगे कहा, "...अब तो अख़बारों में हर दसवें-पन्द्रहवें नाम आ जाता है। कमल को सेक्रेट्री बनाया गया था।"

एक चुप्पी हमारे बीच कायम हो गई।

ओम ने कंधों को झकझोरते हुए बेताबी से कहा,..."अच्छा चलूँगा. चेखब की एक लम्बी कहानी अनूदित कर रहा हूं।" मुझे कुछ बुरा लगा, लेकिन दुख ने गुस्सा की उस पतली-सी लहर को अपने पंजों में मरोड़ लिया। वह हाथ मिला कर दूसरी ओर मुड़ गया, तो मेरा सर आप लटक गया, और मैं अपने को घसीटता हुआ चलने लगा। जैसे अब मुझे एलाहाबाद में, किसी चीज़ को देखने-सुनने और समझने की जरू-

रत नहीं, मैं किसी का नहीं और मेरा कोई नहीं। सब कुछ खोखला, भीतर-बाहर, सब खोखला--कहीं कोई नहीं जिसके दामन में सर छुपा कर अपने अस्तित्व की घोषणा की जाय, ऐसी कोई शक्ति नहीं जिसका कंधा झकझोरकर, सैलाब की तरह उठ खड़ा हुआ जाय...आँखें ऊपर उठीं, कड़ी-कड़ी-सी मकान की दीवालें, सड़क...लोग...वह आँखें ही फूट गईं, जिनके सामने कहानी बिछी रहा करती थी, चरित्र नाचते रहते थे...अब इन आँखों को लेकर क्या करूँ ? अब इस समझ को लेकर क्या करूँ ? जिसमें लिखने लायक कोई बात आती ही नहीं।

शलभ तेजी से साइकिल से गुजर गया, यह कहता हुआ 'कब आये भाई ! कविसम्मेलन है ? फिर मिलूँगा !" लगा जैसे अब कहीं बैठूंगा, नहीं तो गिर पड़ूँगा।

पास ही एक छोटा-सा सूना रेस्ट्राँ था, जिसमें नारंगी रंग की जार्जेट की साड़ी पहने एक साँवली-सी एकहरे बदन वाली लड़की काउण्टर पर बैठी थी।

छः प्यालों की केटल मंगवाई, और पीने लगा। बीच-बीच में सिगरेट सुलगाता और छल्ले छोड़ता रहा ! नज़रें उठतीं, और काउण्टर तक जाकर लौट आतीं।

आखिर यह लड़की मेरे गम को समझती क्यों नहीं ? क्यो नहीं मेरे पास आकर पूछती कि आपको क्या तकलीफ है ? क्या है, वह चीज़, तो काउन्टर छोड़कर मेरी ओर बढ़ने का ख्याल भी उसमें पैदा नहीं करती ! स्वेटर जिसे वह बुन रही है ! यानी वह आदमी जिससे वह मुहब्बत करती है...यानी मुहब्बत !

दूसरी प्याली बनाते-बनाते मुझे कुछ बातों की याद हो आई...

होस्टल से निकाला जा चुका था। युनिवर्सिटी में करीब सौ रुपया

जमा करना था। गुजरी हुई माँ की बाकी यादाश्तों को ज्वेलर्स की दुकान पर रखकर भाई २८०) लेकर लौट आये थे और बँटवारे के बाद जो रकम मेरे हाथ लगी थी, उससे फीस तो जमा हो सकती थी, लेकिन फिर तीन महीना खाया क्या जायेगा? कपड़े तार-तार हो चुके थे...और जूते ने मुँह बा दिया था। इन्हें पहनकर तीन मील घिस-घिसकर चल कर युनिवर्सिटी पहुँचने का ख्याल शर्मनाक साबित हुआ। ऊपर से धूल की आँच......लोगों की निगाहें, चुनांचा, एम० ए० के पहले साल की पढ़ाई को ख़तम कर लेने के ख्याल को भी निकाल बाहर फेंकने पर आमादा हो चुका था।

दो महीना गुजर चुका था। और अब सत्तुओं पर दिन कटने लगे थे। काम मिलता नहीं था। शाश्वत साहित्य के ढेर का ढेर बस्ता लेकर भले आदमियों की नजरें बचाकर प्रकाशकों के यहाँ घुस जाता, और जब वह पूछते, "कैसे कष्ट किया?" तो सोचता मनतव्य बताऊं या कह दूं, "बस यूंही आ गया था। एक दोस्त से मिलना था?" किसी को व्याकरण की अशुद्धियाँ नज़र आतीं, किसी को बड़े ठीकेदारों से बड़ा शाश्वत साहित्य मिलने की उम्मीद होती किसी के लिए चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक होता, और कोई पूछता, 'आप किस गरोह में हैं? छोटे-से छोटा प्रकाशक और बड़े-से बड़े प्रकाशकों ने भी जवाब दे दिया।

लौटा तो गली में अंधेरा हो चुका था, कुलियों, कहारों, और ऐसे ही निम्नमध्यमवर्गीय परिवार के बच्चे म्युनिस्पल-लाइट-पोस्टर के बल्ब के नीचे चबूतरे पर इकट्ठे होकर खेल शुरू करने का मशविरा कर रहे थे। आगे की खुली ओसर में बैठकर हारमोनियम बनाने वाला, आज बनाये हुए बाजा की अन्तिम परीक्षा कर रहा था, छुट्टन साइकिल वाला, काला और फटे हुए कपड़ों में सेनिमा का गीत गाता हुआ घर वापिस हो रहा था, 'शायद कल देखी हुई तस्वीर को आज फिर देखेगा...अभी तो

लाइफ ब्वाय साबुन से मल-मल कर मुंह हाथ धोयेगा...सर में नारंगी का तेल छोड़ेगा ... कुबड़ा जिल्द साज ने भी अपनी कमाई कर ली थी...

अंधेरी कोठरी के पहुँचकर दीवाल पर सर को जोर से पटक दिया। लगा जैसे लिखना व्यसन है! अइय्याशी है। हर ऐरा गैरा-नथ्थू-खैरा भुस-भरा शाश्वत साहित्य श्रष्टा नहीं हो सकता? दुनियाँ के विभिन्न साहित्य को पढ़ना जरूरी है। कई भाषाओं को जानना जरूरी है! फिर बहुत सम्हाल-सम्हालकर लिखना जरूरी है। एक-एक चीजों को कलात्मक प्रकाश देने के लिए घंटों ठण्डे मस्तिष्क से मेहनत करना जरूरी है।

भूख लगी रहती है, तो लिखते वक्त ठहर कर सोचने-समझने की इच्छा नहीं होती, और उनको कलात्मक प्रकाश देने का ख्याल तो आता ही नहीं।

मैं सर्वश्रेष्ट शाश्वत साहित्य-सृष्टा नहीं हो सकता। बड़ी ख्वाहिश है! लेकिन इतना पढ़ने-लिखने और भाषाओं की जानकारी के लिए वक्त लगेगा। पैसा कहाँ से आयेगा! कर तो लूँ, लेकिन खाऊँ-क्या?

सर दूसरी बार दीवाल पर मारा...

मैं? मैं कुछ नहीं लिख सकता...मैं कुछ नहीं कर सकता...कुछ भी नहीं...

सर तीसरी बार दीवाल पर मारा...

कुहासा की तरह गले में भरी हुई रुलाई को चीरती हुई रोने की आवाज साफ हुई और अंधेरी कोठरी में डूबा हुआ दिवाल के सहारे खड़ा मैं हाँफता हुआ कह रहा था, "जूता सी, हारमोनियम बना, जिल्दसाजी कर, शाश्वत साहित्य मत लिख नहीं मर जायेगा......"

उस साल अगहन-पूस की ठिठुरन मार्च महीना में भी टलने का नाम नहीं लेती थी! एक रोज पहले ओला पड़े थे। आकाश पर काल की तरह बादल झूमते नजर आते थे।

रात ग्यारह बज चुका था ! दरवाजा से ओम की आवाज आई। समझ गया, रात भर घूमने का प्रोग्राम बना कर आया होगा। जल्दी-से मफ्लर लपेटा, कोट का कॉलर खड़ा करता हुआ बाहर निकल आया। सबसे सस्ती और कड़ी सिगरेटें खरीदी गई और चल पड़ा गया।

सड़कों पर फैले हुए छोटे-छोटे गद्दों में पानी इकट्ठा हो गया था, और टूटे हुए तलुओं से होकर बार-बार इनका पैरों में छू जाना सख्त नागवार गुजर रहा था।

ओम के चेहरे पर घुप अंधियारा छाया था ! बहुत दूर तक हम चुपचाप चलते रहे।

फिर उसने धीरे-से कहा, "तुमने सुना ? मेरी उपस्थिति कम हो गई है !...मुझे इम्तहान में नहीं शामिल होने दिया जायेगा !"

एक मोटी, भारी, धराऊँ-सी अगूंठी को बेचते हुए मैंने उसे कुछ ही दिन पहले खुद देखा था ! एक कँपकँपी-सी दौड़ गई।

ओम कह रहा था, "...कल-ही तो ओला पड़ा है। एहसास होता है, खड़ी फसल पर ओला पड़ते देखकर किसानों को कितना दुख हुआ होगा।"

एलफार्ड पार्क के तालाब पर आकर हमलोग स्तब्ध से रुक गये। पेड़ों की झुरमुटों में समाया हुआ अंधियारा, तालाब के पानी पर मौत की तरह मंडलाता हुआ अंधियारा, दूर-दूर तक फैला हुआ ठण्ढा, बर्बर, और हिंस्र अंधियारा।...रात एक बज चुका रहा होगा।

मैं कोई कहानी का कथानक सुना रहा था। ओम का संकेत पाकर चुप्प हो गया ! सामने पेड़ों की खोहों के बीच से कोई-कुछ काँपता-सा उठ रहा था। नसों में सर्दी की सरसराहट फैल गई।

"क्या है, ओम ?"

ओम ने थूक घोंटते हुए जवाब दिया,..."हाँ, क्या है ?"

एकाएक मुझे ख्याल आया, '...कुंए की जगत पर उठी हुई छोटी-सी दीवाल है।"

"हूँ!" उसने कहा, और फिर हम लौट पड़े।

पार्क से बाहर निकलकर हम लोग उस अंधकार के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए स्टेशन की ओर सरपट भागे जा रहे थे। क्योंकि चाय अब जरूरी हो चुकी थी।

मैंने बताया कि कहानी सुनाते-सुनाते एक क्षण को मुझे ऐसा ख्याल आया कि तुम्हें उठाकर पटक दूँ और खूब पीटूँ!

ओम ने बताया कि कहानी सुनते-सुनते मुझे लगा कि अब मैं विवश होकर एक जोर का तमाचा तुम्हारे मुँह पर मारूँगा, और आगे बोलने से तुम्हें बन्द कर दूँगा।

''Criminal darknees" मैं भागता हुआ चिल्ला पड़ा।

"Criminal darknees!" उसने दुहराया।

रेस्ट्राँ में पहुँचकर उसने 'सफेदी' शीर्षक एक कहानी सुनाई, जिसमें टेलीपैथी, हिपनाटिज्म, की गाँठें इतनी उलझ गई थीं, कि बस कहानी लिखने वाले के समझ में अगर आ गई हो, तो काफी था। लेकिन लिखने वाले का इरादा कुछ शाश्वत लिखने का था, इसमें संदेह नहीं।

मेरी बात सुनने के बाद बोला, "तुमने ही तो इस तरह की कहानियों को लिखने की हमारे बीच शुरूआत की और अब ?"

"उलझी हुई ऐसी कहानी, और मैं...।"

"शुरूआत में तो उस कहानी के Pattern पर और भी कुछ अच्छी और साफ कहानियाँ आईं, लेकिन जैसे-जैसे वैयक्तिक बडप्पन में संघर्ष होने लगा, इसी तरह की करीब-करीब हर ने चीजें लिखी।

हम दोनों ने जब जी भर कर हँस लिया, तो उसने धीरे से कहा, "आखीर कैसे लिखा जाय? और क्यों?"

"कुछ काम की चीजें लिखने की कोशिश करना चाहिये।"

"वैद्यक-शास्त्र के उपयोगी नुस्खों का संग्रह और प्रकाशन ? जासूसी, सनसनीदार, और घटना-प्रधान कहानियाँ ? लैला-मजनू, राम-सीता की कहानियाँ ? बाण-भट्ट की आत्म-कथा ? चारवाक का दर्शन ? चन्द्रगुप्त और अशोक का शासन ? संयुक्ता का प्रेम, ? बीरबल के लतीफे। सेनिमा के गाने ? ब्रह्मचर्य्य ही जीवन है ? क्या काम की चीजें हैं ?" खीझकर उसने कहा, "भाई ! मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता।"

कुछ देर तक हम लोग अपने-अपने विचारों के अंधियारे में डूबते गये, डूबते गये। जब दम घुटने लगा, तो बेअख्तियार बोल पड़ा, "जैसे मैंने पढ़ना चाहा, नहीं पढ़ सका, तुमने मुझसे भी आगे धावा मारा और रुकावट आ गई। लिखने के लिए हर दर्द, हर हँसी-खुशी, हर घुटन, हर पछतावा, हर प्रेम की अनुभूति के पीछे आत्म-विश्लेषण का शीशा लगाकर हर अनुभूति का होश सम्भालने से अब तक खून करते आये, लड़ते आये, अंधेरे में अमर होने का खुशनुमा सपना सच्चाई के साथ देखकर हाथ मार-मारकर बढ़ते चले आये, लेकिन कुछ न बना। चीजें लिखी गई, छापी गईं, पढ़ी गईं, और भुला दी गईं। किसी के काम की न हुईं। और अब भूख के हर थप्पड़, बेकारी की हर ठोकर, फटे-कपड़ों पर पड़ने वाली हर उपेक्षा का तीखा, मर्मान्तक चोट, उंगलियों में से कलम को ढीला करता जा रहा है। Matter और Manner का संघर्ष छिड़ गया हैं, और टूटी फूटी जबान में, सच्चाई के गीत गाने पर फाकों का इनाम मिलता है, खूंखार, निर्मम, स्वार्थी, हिंस्र और पाशविक व्यक्ति-वादिता हमारी अनुभूतियों का व्यापार चाहती है......व्यक्ति-व्यक्ति का संघर्ष है, रुपयों की एक ढेर का दूसरे से मुकाबला है, और लाखों-करोड़ों, अरबों, खरबों आदमी इनकी तहों के नीचे पटे हुए, अन्धकार में एक दूसरे के गोश्त को काटते, भगवान की दया की उम्मीद लगाये, आशा-हीन, अपनी-अपनी खालों में जी रहे हैं, आज से नहीं, जब से यह संघर्ष

छिड़ा, जब से भगवान का दूल्हा पूजा जाने लगा...।" मेरा मुंह कड़ी सर्दी के बावजूद भी तमतमाने लगा था और एहसास हो रहा था, जैसे जिस्म की सारी गर्मी इकट्ठा होकर दिमाग में समा गई हो। एक भयंकर हँसी की ठुनकियाँ मेरे मुँह से निकल कर सर्द हवा से लड़ती पुलकती हुई आगे निकल गई, "ओम भाई ! पैसे वालों की कितनी बड़ी और पुरानी साजिशों से आज का आदमी गिरफ्त होकर छटपटा रहा है, रोता है, चिल्लाता है, और अत्यन्त मजबूर होकर वह-कुछ करता है, जिससे वह बस जी जाय...........जी जाने भर का सहारा मिलने के लिए उसे हर तरह की सुलह कर लेनी पड़ेगी..... कुछ दिनों तक सुलह गड़ेंगीं. फिर वह आत्याचारियों का एक औजार होकर, मुसीबत जदों पर, चोरी करने वाले गरीबों, पर, मजलूम औरतों पर, अपने स्वार्थ के पैने अस्त्रों की आजमाइश करने लगता है। ओम भाई ! कितनी बड़ी साजिश है। कितनी बड़ी साजिश है।" चुपचाप बड़ी देर तक हम लोग सर झुकाकर ठंठक में सिकुड़ते, सिगरेट फूंकते चलते रहे, कि एकाएक एक भारी, गम्भीर और सचेत आवाज ने पूछा, "तुम लोग कौन हो ? और इतनी रात को इस तरह क्यों घूम रहे हो ?" सिबिल-लाइन्स की किसी ज्वेलर्स का चौकीदार था ! ओम जरा सहमा और मेरी तरफ देखने लगा। मैंने धीरे से कहा "देखा।"

चौकीदार बड़बड़ा रहा था, "तीन बजे कोई घूमने का वक्त होता है !"

मुझे जोर का गुस्सा आया, "कौन होता है, तू यह बताने वाला कि कितने बजे से घूमने का वक्त होता है। बेवकूफ कहीं का, सूअर !" गाली सुनते ही वह आदमी ठण्डा हो गया।

नसों के तार कांप रहे थे और थोड़ी देर बाद ही चोट खाये नाग के बच्चे की तरह फुफकार कर मैंने कहना शुरू किया .....डालमिया का अख़बार, 'धर्मयुग', और 'नवयुग', बिरला का अखबार, लीडर, और

संगम, काँग्रेस सरकार का अखबार, आज-कल, जो शाश्वत गीत, शाश्वत कहानी, शाश्वत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, चुटकुले, ज्योतिष आत्म-विवेक कढ़ाई-बुनाई, और चित्रों से भरा रहता है खूब बिकता है। कल्याण, जो करपात्री के भाषणों को छापता है,......जाति-पाँति के बन्धनों को, जमीदार और राजाओं को नष्ट करना न्याय और धर्म-संगत नहीं हैं। जो उठते हुए इन्सानों बवण्डर को परम्परा, इतिहास, संस्कृति, वेद, ईश्वर और रुढ़ियों में कसकर बाँधना और चूसना चाहते हैं, खूब बिकता है। सजनी, साजन, माया, मनोहर, जिनमें Mental Mausterbation के चित्र, वासना के मोहाच्छन्न कुहासों को उगते हुए इन्सानों के सामने Impotant प्रेम की कहानियों के ताने-बानों में बुनकर, जाल की तरह उनकी असली ताकत पर फेंककर, उनकी जिन्दगी की हड्डियों को तोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए बेकार कर देते हैं......प्रेम, सेनिमा के झीने और सुहावने चित्र, खूब बिकते हैं.........। जो जहाँ बैठ गया, ठेकेदार हो गया, authority हो गया, लूटने लगा, घसोटने लगा......दबाने लगा, दबोचने लगा, और उगकर शाश्वत, बड़ा, महान होने लगा। थूक दूँ, ऐसे शाश्वत अखबारों पर, प्रेम की बेहूदा, हास्यास्पद, गुमराह कहानियों पर, अपने तुम्हारे और शाश्वतवादियों के चेहरों पर, सेनिमा चित्रों और निर्माताओं पर, इतिहास, संस्कृति, वेद, सन्यासी, पुजारी, और भगवान पर, तो ओम, मेरा थूक भी गन्दा हो जाय !"

मैं हकलाने लगा था, अत्यधिक उत्तेजना में। मुझे याद आता है।

सुबह होने वाली थी। फलतः उजाला देखने का ख्याल मिलन-सुख-सा हमें, शान्ति, निष्ठा, गम्भीरता, त्याग और तपस्या से प्रतिपल भरता जा रहा था और इस त्यौहार को सम्पन्न करने के लिए तेजी से हम एलफर्ड पार्क की तरफ बढ़े जा रहे थे। बेंच पर बैठे ही थे, कि अंधकार की छाती फट उठी, ज्योति-किरन की पहली आभा पूरबीय कुकुम पर खिंच गई। भैरव राग में बँधी निराला की वह लाइन याद आई, 'जागो फिर

एक बार......' ओम ने साथ दिया, और हम चिल्ला-चिल्लाकर, मस्त, आह्लादित, निष्ठावान स्वर में गाते रहे !

लगता था जैसे भूख को हमने जीत लिया है,

बेकारी को हमने जीत लिया है,

युद्ध के पाशविक दानव की पथरीली, बंजर, जमीन जैसी लाश को तोड़कर, शान्ति का कुमकुम अंकुआ फूट पड़ा है।

जैसे, हवा के पंखों पर झूम-झूमकर स्वर की कड़ियां, गाँव-गाँव में, शहर-शहर में, देश-देश में तैरती हुई भागती जा रही हैं .....थोड़ी देर में सब जाग जाँयेंगे......थोड़ी देर में ज्योति का भण्डार खुल जायेगा... थोड़ी देर में, हम कभी गुमराह नहीं होंगे, ऐसा रास्ता मिल जायेगा, थोड़ी देर में, हम कभी भटकेंगे नहीं, ऐसी निष्ठा मिल जायेगी। थोड़ी देर में, हम कभी थकेंगे नहीं, ऐसी शक्ति मिल जायेगी।

"प्रतिज्ञा करो ओम ! उजाला की शपथ खाओ भाई !! कि अब अमर होने के विचार को फटे-पुराने कपड़ों की तरह नोच-नोच फेंक देंगे कभी जानवरी व्यक्तिवादिता के सपना को स्पर्धा और स्वार्थ की गोद में बड़ा नहीं होने देंगे। वर्ग और व्यवसाय के लिए नहीं, आने वाले साथी तूफानी इन्सान के पैरों की आहट की प्रतिज्ञा में लिखना का दिया संजोये बैठे रहेंगे और इस दिया की लौ को बुझाने वालों के दाँत की छिद्रों में सीसा भरकर उन्हें हमेशा के लिए खामोश कर देंगे, और क़लम की नोक से उनकी मोटी खालो को नोच-नोचकर शूकरों-श्वानों के लिए रख देंगे !"

उजाला फैल रहा था और ओम ने धीरे से कहा, "अलविदा, शाश्वत-साहित्य ! अलविदा, मेरी आज तक की सारी भूलों, रचनाओ ! अलविदा !"

पाँचवीं प्याली की चाय कपड़ों पर छलक पड़ी, तो अपने ठूँठ से अस्तित्व का ज्ञान हुआ, नारंगी रंग की जार्जेट की साड़ी पहने, काउन्टर पर स्वेटर बुनती लड़की की ओर नजरें उठीं,... आखिर यह मुझसे

पूछती क्यों नहीं, कि तुम्हारा क्या खो गया ? क्या लुट गया, जो मिल नहीं सकता ? क्या कम हो गया, जो इतना खोखलापन, इतनी जड़ता भर गया ? क्या हो गया, जिससे विचार-विचार रह गये, घटनाएँ-घटनाएँ रह गई चरित्र-चरित्र रह गये, और सबसे सम्बधित एहसास के तार का रिश्ता टूट गया ? तुम्हारे चेहरे पर अकेलापन की जड़ता कैसे आ गई ?

सिगरेट सुलगाई तो बुदबुदा पड़ा, "साले, एक-एक कहानी और दो-दो गीत लेकर साहित्यिकी में आये थे .....कोंच-कोंचकर जगाया, अनुभूतियाँ दीं, लिखवाया, और अब जब मैं थक कर किनारे पड़ा हूँ, तो सीटी बजाकर शोहरत पकड़ने की गरज से भागते चले जा रहे हैं ! खैर।"

काश ! कि आदमी सिर्फ विचार होता, तो साम्यवाद कितना सत्य सपना होता ! लेकिन हाय रे दुर्भाग्य ! कि आदमी का अस्तित्व स्वयं उसके बीच का इतना बड़ा रोड़ा है, जो पैर आगे रखते ही चुभने लगता है।

हाय रे दुर्भाग्य ! कितना बड़ा संघर्ष है ! कितनी शाश्वत क्रान्ति है !

काउन्टर पर जाकर पैसे चुकाये और इस बीच जब उंगलियों की साँवली नागिन छू गई, तो एक अजीब-सी जिन्दगी की लहर दौड़ गई।

बाहर अंधेरा हो चुका था ! मैं किताब और अखबार को बगल में दबाये चलने लगा। जिन्दगी की लहर दौड़कर मिट चुकी थी, और अब वहीं ठूंठपन , निर्जीविता, काया का बोझ, भारी होकर पैर में पत्थर की तरह बँध गया......

डोल रहा था, सो डोलता गया,......

शून्यता का पानी इतना ऊपर चढ़ आया था कि हर सोची हुई बात डूबकर मर चुकी थी। चेहरे पर अवश्य ऐसे चिन्ह आ गये होंगे, जैसे बाप का नाम भूल गया होऊँ।

काफी दूर गये, कल के दफ्तर का ख्याल आया। पैर तेजी से उठने

लगें ! आराम करना चाहिये ! थक गया हूँ ! परेशान होने से तन्दुरुस्ती खराब होगी । गुनगुनाने लगा,

रात होती जा रही थी । पुल के पास पहुँचा ही था कि बदबू, गर्मी, और शोर के एक भारी उफान ने मोरियों, मकानों, और लोगों के बीच से उठकर मुझे दबा लिया । शहर की घनी बस्तियाँ शुरू हो गई थीं । रिक्शा, साइकिल, इक्का तांगा, और बस, हानों आवाजों और घंटियों से लोगों को चौकन्ना करते-भागते चले जा रहे थे । कई माइक पर कई तवे मुकाबले के लिए धर दिये गये थे । लता, गीता, जूतिका, तलक, रफी, और मुखेश के गले का दर्द, संगीत-प्रियता, रेडियो, ग्रामोफोन, और तवों की बिक्री के लिए इस्तेमाल में लाया जा रहा था । शंटिंग करती हुई गाड़ी की सीटी, इनकी दर्द भरी आवाज़ को चीरकर ठंण्ढा शमशीर की तरह रगों में पेवस्त हो जाती थी ।

उत्तरी भारत के शान जैसा खूबसूरत और विराट सेनिमा-घर, सैकड़ों बत्तियों और अदाकारों की रंगीन तस्वीरों से जगमगा रहा था । नये मॉडल की अच्छी, और गंभीर रंगोवाली कारें, पोर्टिंगों में पार्क होती जा रही थीं । सामने पान की दुकानों पर तमोली सतर्क होकर पान और सिगरेट बेचते जा रहे थे । 'शो' में दुकानें कमबेशी बराबर थीं । एक हारी-सी थी । सो पान वाले ने अपनी बीबी को दुकान पर बैठा कर 'शो' की कमी को पूरा कर लिया । मूंगफली, और खोंचा बेचने वालों में अलग बिक्री के लिए हाय-तोबा मचा हुआ था । गली की मोड़ पर डेव्हरा की लव में बैठा, एक आदमी चुपचाप पकौड़ा छानता जा रहा था । एक साइकिल बीच में आ अंड़ी । दो साइकिल 'स्टैन्ड' से लड़के भागकर उस आदमी के पास इकट्ठा हो गये ।

"गाड़ी रखिएगा बाबूजी !" दो आवाज़ एक साथ ।

आदमी ने एक फीकी मुस्कराहट से उत्तर दिया और आगे बढ़ गया । लड़के एक दूसरे को कोसते लौट गये । रास्ता साफ हुआ, तो मैं गली में मुड़ गया ।

गली संकरी होकर आगे बढ़ी, बांये मुड़ी तो और संकरी हो गई। लगता था जैसे अंधियारे में लिपटे हुए दीवाल और दरवाजे दोनों ओर से चुन दिये गये हैं, जिनमें हवा की मौजें नहीं लोगों की बीमार, स्वार्थी, ज़हरीली, किन्तु दर्दीली सांसों की टुकड़ियाँ मुर्दा होकर फिजां की कफ़न में लिपटी पड़ी हैं। हर तरफ़ से बदबू की लपटें उठ रही थीं। गन्दे गलीजों का ढेर तितर-बितर हो चुका था। लोग जहाँ-तहाँ बोलते जा रहे थे।

बांई ओर ओसार की एक टुकड़ी का मालिक रामहरख नाऊ आग पर दाल चढ़ाकर आँटा गूंथ रहा था। खारा पानी का ठेला ढोने वाला काना चुपचाप बैठा खाने की इन्तजार में बीड़ी पी रहा था, और उसकी नशीली गन्ध विष बनकर खींची हुई सांस के साथ अन्दर पैठती जा रही थी। बांई ओर की कोठरी में काना का छोटा लड़का, और दाहिनी ओर की कोठरी में उसका बड़ा लड़का अपनी-अपनी औरत को लेकर रहते आये थे। इस समय दोनों ने खाना बनाना शुरू कर दिया था और आंगन में धुँआ भरता जा रहा था। अन्दर घुप अंधियारा से लिपटा दुर्गन्ध सब का है। आगन सबका है। पाइप सबका है। लेकिन ओसारों का बँटवारा हो चुका था। एक ओसार में म्युनिस्पल बोर्ड में चौदीदारी की ड्यूटी देने वाला तपेदिक का मरीज था। थाना में कुली का काम करने वाला दमा का शिकार होकर दूसरी ओसार में पड़ा कराह रहा था। साथ अंधी औरत बीमारी और बुढ़ापा के मर्ज में मुफ़्ला महीनों से चारपाई तोड़ रही थी। शान्ती वहीं बैठी, खाना बना रही थी और कमासुत भाई को समझा रही थी कि बस अब हुआ ही जाता है। उस पार तपेदिक के मरीज का परिवार था जिसका जवान लड़का तख्त पर पड़ा सेनिमा का गाना गा रहा था, जवान बहू और अधेड़ औरत खाना बनाने में लगी थीं। बीच में एक कमरा पड़ता था, जिसमें एक मुंशी जी रहते थे वह अक्सर अभी नहीं आते। जवान बहू की इज्जत और आबरूह बचाने के लिए सास ने

बीच में एक टाट का पर्दा टांग दिया था जो निहायत, भद्दा, फूहड़ और नामाकूल लग रहा था। बच्चों के रोने का शोर केचुओं की तरह धुँओं की मोरियों में डोल रहे थे। अधेड़ औरत बहू को परिवारकी मजबूरियाँ समझा रही थी। अंधी औरत रो-रोकर भूख-भूख चिल्ला रही थी। दमा और तपेदिक के मरीज सिर्फ सांसें खींच रहे थे। जवान लड़का गाता ही जा रहा था।

गांव से आया था, सो इन सबके बीच सांस लेना भी गैर मुमकिन लगता था। सोचा जा-जाकर सब का गला घोंट दूं। सबको मार डालूँ। हवा में सांस लेने का इन्हें क्या हक है! भद्दे और बेहूदा आवाज़ों को थूकते रहने की ऐसी क्या मजबूरी है! ऊपर आया तो भाभी ने मौका पाकर कहा "आ गये। खाना तैयार है। खा लीजिए। 'हूं' की एक लम्बी सांस लेकर मैं कमरे में चला गया।

"चाचा जी!" भागती हुई खुश गीता ने आकर कहा, "खाना ले आयें?"

"कपड़ा बदल रहा हूं!" मैंने रुखाई से कहा, "ठहरो!"

...और कुछ बातें मुझे याद आने लगीं,।

कई मौकों पर मेरा यहाँ आना हुआ है, और कई तरह से। युनिवर्सिटी छोड़कर आया था तो तीन रोज यहीं कमरे में पड़ा रहा, और भाभी ने यह नहीं पूछा कि लाला खाना खाओगे? तुम्हें भूख लगती भी है. या नहीं? इन्तजार करती रहीं कि खुद कहूं, तब वह खाना ले आँयें, जिसका मतलब था कि उस दिन से महीना शुरू हो जायेगा, और महीना के आखीर में पचीस रुपया गिनना होगा? गहना बेचा गया। रकम पल्ले पड़ा। तो मेरा खाना बनने लगा। चचाजाद भाईने पहले तीस रुपये पर जोर दिया, और दोनों वक्त खाना के अलावा चाय पिलाई। लेकिन मैं पचीस से आगे बढ़ता नहीं था, क्योंकि बेकारी का सपना मेरे लिए दिन-रात की तरह सच हो गया था। जाने कितने दिन ऐसे ही

गुजरने वाले हैं, इसका ख्याल मुझे कमजोर, दुर्बल, रोने वाला, अकेला और स्वार्थी बना रहा था! आखीरकार हारकर उन्होंने मेरी बात मान ली, सोचा होगा, भागते भूत की लंगोटी बहुत है। फिर एक दिन ताजा अखबार खरीद लाये और नेहायत गमगीन, उदास शकल बना कर; टूटी हुई खिड़की के सामने जाकर पढ़ने लगे, जब देखा कि मैं चाय पी चुका और खुश नजर आता हूं, तभी बोल उठे, 'गल्ला का भाव बढ़ रहा है, इस वक्त पचास और दे दो, तो गल्ला ख़रीद कर रख दूँ।" मैं संकोच में पड़ा। रुपया मेरे पास था। लेकिन देना? कोई पाँच पैसा माँगता तो न देता। सब पोस्टाफ़िस में रख आया था। तुरन्त समझ न पड़ा, तो बोला, "अभी तो मेरे पास कुछ खास पैसे हैं भी नहीं, सब रामू भइया के पास हैं, उनसे आपकी बात कह दूगा।' मेरे चचेरे भाई ने हताश होकर कहा, "उनसे तो मिल चुका? कमरे तक का तो पैसा देते नहीं?" आखीरकार, उन्होंने दूसरे मद्दों पर पैसा वसूल करना चाहा, मसलन, चारपाई की बिनाई, लालटेन की बनवाई, महतरानी आदि और मैं भाई साहब के मशविरे से उन्हें देता गया।

हालत खराब से भी ज्यादा हो चुकी थी। अप्रैल का महीना था। भाई साहब अपनी Law के Preparati nl eave में पैसों को बचाने की गरज से रिश्तेदारी में चले गये थे। ट्यूशन एक रह गया था, पन्द्रह रुपये का। पास-बुक में पचास रुपये रह गये थे। अब तो बुरी गत होने वाली थी। रिश्तेदार के यहाँ लौटना, नौकरी मिल जाना तो था नहीं, फिर वहाँ आस पास वह लड़की भी थी, जिससे मेरी मुहब्बत थी और अपने फटे-पुराने कपड़ों, और, हड्डेदार भूखे चेहरे पर उसकी नजर के पड़ने का ख्याल भी मेरे लिए नाकाबिल बरदाश्त था, इसलिए वहाँ जाना मेरे लिए कतई मुमकिन नहीं था। तो फिर! अब क्या हो? एलाहाबाद कब्र बन जाने वाला था। चिल्ला चिल्लाकर शेली, कीट्स, स्टिवेन्सन, बाँयरन, की कविताएँ पढ़ता था, सैनिमा के गीत गाता था, लेकिन मुझे याद है, मेरी परीशानियों और गमों ने किसी के हृदय का स्पर्श तक नहीं किया।

एकाध उपन्यास के Manuscript थे। जमा पैसों को खाकर उन्हें Rewrite भी कर डाला था, तो कोई प्रकाशक उसका उद्धार, फलतः मेरा उद्धार करने को तैयार नहीं था। भागने की सोची बम्बई ? नहीं ! जाने क्यों कलकत्ता जाने का ख्याल ज्यादा सही मालूम हो रहा था। चुनांचा बनारस जाने का इरादा किया। भाई और भाभी को मालूम हुआ, तो पहले तो पच्चीस रुपया छः आना का बिल भेजा गया। छः आना के बाबत लिखा था कि मैंने एक बार उनसे उधार लिया था। बड़ा दुख हुआ। इस तरह के व्यापारिक दृष्टि कोण को देख कर। पैसा चुका दिया गया, तब बड़े भाइयों जैसे सीख देने लगे कि कहाँ जाओगे ? यहीं रहो। जिसका मतलब था कि अभी पच्चीस-तीस रुपये तो तुम्हारे पास और हैं, उसे भी देते जाओ।

गाँव में मास्टर हो गया, तब कभी-कदाज आया और मजबूरन टिक गया, तो अच्छी आव-भगत मिलती थी।

और इस बार जब सरकार ने मेरी कीमत १३७) लगा दी थी, तो कहना ही क्या ! आने देर नहीं कि खाना के लिये तीन-चार बार पूछा जा रहा है।

कैसी है यह मेरी भाभी ? भइया ? जो संकीर्ण हैं, तो संकीर्ण भी नहीं बने रहते। बेइमान, लोभी ?

चिराग जलाकर चारपाई पर लेटा ही था कि भाभी आ गई बोली, "लाला। खाना ले आयें ?"

मैंने सभ्यता से कहा, "भाभी मुझे भूख नहीं लगी है।"

"क्यों ? कहीं से खा आय्यो का ?

"नहीं तो !"

फिर उन्होंने कुछ मजाक किया और चली गई। मन का भाव छिपा रही थीं। लेकिन उसका खुलना अवश्य था। लौट आईं बोली, "लाल। सुबह तो खाइएगा न !"

उनके रहस्यात्मक प्रेम के आडम्बर का पर्दा फाश हो गया तो, मुझे बड़ी तरस आई। बेहद संकोच में पड़ गया। क्या कहूं! कह दूँ, हाँ, तो वह खाना, जो यह लोग खाते हैं, खाया भी तो नहीं जायेगा।

आखीरकार मैंने कहा, "बताऊँगा।"

और वह संतुष्ट होकर चली गईं।

मेरे अपने खास भाई आये। आते ही उन्होंने मेरे दफ़्तर के नये अनुभवों के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करनी चाही और मैंने बताया, लोग निहायत मिलनसार और अच्छे हैं। मेरे काम में मेरी मदद करना चाहते हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह कि किसी ने काम करने पर जोर नहीं दिया, और मैं किताब पढ़ता रहा।

"बड़े और छोटे, सरकारी और गैर सरकारी दफ़्तरों का यही फर्क है।" उन्होंने कहा।

मैंने भाभी की बात का जिक्र किया तो बोले, "जैसा समझो! यहाँ खा लेने में क्या हर्ज है!" बिचारे का लॉ का आखिरी साल चल रहा था। पैसों की बड़ी कठिनाई थी। रिश्तेदारों के घर की उम्मीद का रिश्ता करीब-करीब टूट चुका था, या टूट गया था, आठ-आठ दस-दस बरस पुराने चर्चों, और दोस्तों को खोज-खोज कर उन्होंने उनसे पैसा लिया! सेहत ठीक नहीं थी इसलिए कहीं Extra काम करते नहीं थे! फीस और कपड़ा, खाना और दवा का सवाल हर महीना मुंह फाड़कर खड़ा रहा करता था। मेरी मास्टरी की आमदनी थोड़ी थी चुनाँचा, मैंने कभी-कदाज ही मदद किया, ज्यादा कुछ कर भी नहीं सकता था। और उन्होंने, ऐसा लगता था, उम्मीद भी नहीं किया। दिल में जो सोचा हो, राम जाने।

मैंने कहा, "खाना खाया भी तो नहीं जायेगा।"

"आखीर यह लोग कैसे खाते हैं।"

"भाई मुझसे तो नहीं खाया जायगे।"

भाई बिगड़े, "जैसे तुमने कभी खाया ही नहीं। इसलिए कह रहा हूँ कि साथ रहने से इनका भी कुछ न कुछ भला होगा, क्योंकि भइया की आमदनी है ही क्या ! बड़ी मुसीबत की जिन्दगी जी जा रही है। और दोनों आदमी मिल जाओगे तो खासा खाओगे पहनोगे।" शान्त होकर बोला "मजबूरी थी न ! लेकिन अब ऐसा कुछ नहीं।"

"जैसी मर्जी।" उन्होंने दुहराया, और उनके चेहरे पर उदासी उतर आई, जिसकी याद मुझे रुला देती है, जिसका मतलब था कि घर में खाओगे, तो पैसे बचेंगे, और पैसे बचेंगे, तो मुझे भी कुछ मिल जायेंगे।

मैं गुमशुम बैठा रहा, जैसे, जो मसले मेरे सामने हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ सोच और समझ सकने की ताकत मुझमें नहीं है।

धीरे से आहिस्ता होकर बोले, 'पतलून बदल लो। पैजामा न हो, तो सन्दूक से निकाल लेना !" मुझे हंसी आना चाहती थी। लेकिन सभ्यता का तगाजा निभा गया। मन में सोच रहा था, "कभी तो मेरे भाई इतने मेहरबान नहीं थे। आज सरकार ने १३७) कीमत लगा दी इसलिए इतनी उदारता इनमें आ गई ! बड़ा मजबूर होकर जब कभी इनका कपड़ा और जूता पहन लिया क्या था तो बड़ी डाँटें पड़ती थीं। यहाँ तक कि यही भाई बिगड़ते बिगड़ते रुला दिया करते थे। और आज...

मैंने कहा, "और यहाँ रहा भी तो नहीं जा सकता।"

"क्यों !"

"थोड़ी-सी जगह है। बहुत से लोग हैं। आपको भी दिक्कत होगी। आँफिस के सात घंटों के अलावा, थोड़ा सा वक्त मिलता है सो उसमें ही मुझे एम० ए० की तैयारी करनी है, और लिखना—पढ़ना भी है। और यहाँ......" कहना, चाहता था, 'घुटकर मर जाऊँगा। और कुछ नहीं।' बोला, "इस कलकी में पड़ा तो रहना नहीं है।"

"हाँ। वह तो ठीक है। घबड़ाने से काम नहीं चलेगा। चलेंगे तो, सब साथ चलेंगे। यह लोग भी तो हैं......" उन्होंने कहा, यों कि बात यहीं खतम हो जाय, फिलहाल तो अच्छा है। कुछ देर चुप रहकर बड़े उत्साहित स्वर में बोले, "लालटेन है ही, लिखने-पढ़ने का काम तो यहाँ आसानी से चल ही सकता है, रहा तुम्हारे ए० ए० होने की बात, सो अगर शङ्कर जी ने चाहा, तो अगले साल हो जाओगे। प्रैक्टिस शुरू करने को देर है।" और उन्होंने शङ्कर भगवान की तस्वीर की ओर हाथ जोड़कर कहा, "जय शङ्कर भगवान की!"

मैं टस-से-मस न हुआ। उनकी भावुकता, और विश्वास मेरे निश्चित इरादों के इर्द-गिर्द चक्कर मारकर निकल गये।

जी में आ रहा था, कह दूँ, भइया, कबसे सबका ख्याल आपके दिल में आने लगा! कभी तो आप ऐसे नहीं थे। बी० ए० फर्स्ट-ईयर में था! १५०) कर्ज लिया। चेक मैंने आपके सामने फेंक दिया, यह सोचकर कि आपकी ज़रूरतें ज्यादा हैं। लेकिन फिर आप सात दिन तक मेरे कमरे के पास वाले कमरे में सेमिनार के लिए आते थे, और मेरा कमरा इस तरह बचा जाते, जैसा वहाँ कोई बसता ही नहीं। आठवें दिन मिलने पर, जब मैंने अपनी जरूरियातों को सामने रखते हुए आपसे तीस-रुपयों की माँग की तो आपने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा, "पैसे कहाँ है?"

मैं जानता था ये पैसे इतनी जल्द खतम नहीं हुए हैं। इसलिये आवेश की मजबूरियों में कुछ सख्त-सुस्त कह डाला।

आपने और गम्भीर होकर कहा था, "मैं इतना ओछा नहीं हूँ कि सबसे अपनी मजबूरियाँ कहता फिरूँ।"

मै निराश होने लगा तो आठ आना देने लगे। बहुत जिद करने पर डेढ़ रुपया देकर पिण्ड छुड़ाया। मुझे विचार-मग्न देखकर उन्होंने सोचा, शायद मैंने उनकी बात मान ली और उत्साहित हुए, बोले, "......

हां। खाना तो यहाँ ठीक नहीं होता। Nourishing Deit की तुम्हें जरूरत है। चाहो उस होटल में खाना शुरू कर सकते हो, जहाँ मैं खाता हूँ।"

अत्यन्त सम्भलकर मैंने कहा, "हाँ। वह तो है ही। लेकिन यहाँ, इस तंग कोठरी में तो कुछ काम हो सकना मुमकिन नहीं।"

"क्यों?" अब उनका सारा धैर्य गुस्सा की ओर घूमने लगा! उनका गुस्सा देखकर मेरा दिमाग कागज की तरह सफेद हो गया!

सूझ न पड़ा, क्या कहूँ।

उन्होंने थोड़ा हँसकर कहा, "बड़े जिद्दी हो?"

मैं अब तक सचेत हो चुका था। बोला, "अरे! यह सब तो ठीक है। लेकिन यहाँ रहकर काम कर सकने का ख्याल ही बड़ा गलत मालूम होता है।" लेकिन तुरन्त कहाँ चला जाऊँ, स्थान की अनिश्चितता ने मुझसे कहलाया, "खैर देखा जायेगा। अभी से कहूं......" राज के घर जाने का ख्याल तुरन्त आया।

लेकिन तब भाई कह रहे थे। "......यही समझदारी है।"

अन्दर से मैं सोच रहा था, "उफ! आज समझ में आई कि समझदारी क्या है? यही है? तो फिर बेवकूफी क्या है?"

जाने क्यों मुझे ऐसा लगा कि अगर हम लोग थोड़ी देर तक इन सबको भूल कर खुश रह लें, तो ज्यादा अच्छा होगा।

भाई चारपाई पर बैठ गये। बीड़ी सुलगा ली तो पूछा, "खाना खा लिया?"

सिगरेट पीने की इच्छा बलवती हो रही थी। बोला, "कुछ खाने की इच्छा नहीं होती।"

मैं उनकी आदत से वाकिफ था कि अब बहुत-सी दार्शनिक और

माहित्यिक बातों का पंवारा शुरू करने वाले थे, इसलिए इजाजत लेकर थोड़ी देर के लिए उठ गया।

लौटा तो विह्वल होकर शेली की उन लाइनों को वह दुहरा रहे थे।

Oh ! lift me as a wave, a leaf, a cloud.
I fall upon the thorn of life, I bleed.
A heavy weight of hours has chained and bow' d.
One too like thee—tameless and swift and proud.

कई बार इन लाइनों को मैंने शराब के पैमाने की तरह खुद पिया था, फिर भी आज मैं कतई निर्जीव था फिर भी मैं विह्वल हुआ और कुछ कहना चाहता था......

कि उन्होंने मुझे रोकते हुए कहा, "आगे कहता है,

"Ashes and sparkes, my words among man kind.
Be through my lips to unawakend earth
The trumpet of a prophecy ! o wind,
If winter comes, can spring be far behind."

फिर घंटों शेली की कविता की अच्छाइयाँ बयान करते रहे। जब मेरी धैर्य परीक्षा समाप्त हो गई तो मैंने कहा, "In all propa bilities you take me to be a fool."

"नहीं। यों ही !" उन्होंने कहा। कुछ देर खामोश रहे, फिर बोले, "शेली जैसा कवि तुम्हारे हिन्दी में कोई नहीं है ?"

मैंने इच्छा न होते हुए भी नाम बताया, "पन्त और बच्चन !"

उन्होंने कुछ व्यंगात्मक ढंग से खींचकर प्रश्नात्मक ढंग से उच्चारण किया, "पन्त और बच्चन ?"

हँसकर बोले 'चोर हैं ?"

मुझे गुस्सा नहीं आया, फिर भी गुस्सा प्रकट करना आवश्यक था, "एक दम ऐसी बातें किसी के सम्बन्ध में नहीं कह दिया करते..."

उन्होंने हँसकर कहा, "catch sentences बोलने से ही काम नहीं चलता।"

"क्या मतलब ? catch sentences का ?"

"इसी sentence को कि एक दम ऐसी बातें किसी के सम्बन्ध में नहीं कह दिया करते, मैंने तुमसे कई एक बार कहा है ?"

"बिना मतलब की बात। एक बार, दो बार, दस बार एक वाक्य को जरूरत के मुताबिक इस्तेमाल करने से वाक्य आपका हो गया ? यही फर्क, शेली, और हमारे कवि पन्त और बच्चन का है ?"

"श्रीश ! तुम नहीं समझ सकते shelley की कविता कितनी ऊँची होती है।"

मैं बिल्कुल कुछ नहीं महसूस कर रहा था लेकिन कह रहा था, "कुछ भी हो, पन्त और बच्चन के सम्बन्ध में आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये था।"

"श्रीश !" उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा, 'तुम नहीं समझ सकते shelley की कविता कितनी ऊँची होती है।'

"अच्छा। खैर !" चिढ़ने का-सा भाव प्रदर्शित करते हुए मैंने कहा।

"श्रीश !" उन्होंने और ऊँचे स्वर में कहा, "तुम कहीं समझ सकते shelly की कविता कितनी ऊँची होती है।"

' होगी । फिर क्या करूँ । सिर धुन लूँ !"

वह हँस चुके तो बोले, 'हिन्दी वाले बौने हैं......"

"अच्छा अब ना काबिल बरदाश्त हो रहा है !" मैंने खड़ा होते हुए कहा । .....

उन्होंने बात तोड़ दी, "......यों बच्चन जी की कविता मैंने सुनी है...मधुशाला बहुत अच्छा लिखा है..."

"शैली ! छयग्रस्त !! Decedant !!!" मैंने भुन कर कहा ।

वह स्थिति सम्भाल रहे थे, लेकिन मौका पाकर मैंने प्रहार किया । तो स्थिति में तनाव आ गया । बोले, "लड़ने पर अमादा हो तो वैसा कहो । नहीं तो, सो जाओ ।"

अब मैं गुस्से में आ गया, "Ideas impose करते हैं, जानते किसी के बारे में कुछ नहीं हैं ।" 'खैर ।' कहकर उन्होंने करवट बदल ली ।

दूसरे दिन आफिस जाने के लिए स्लेटी रंग के गरम पतलून के ऊपर सर्ज का कोट पहनने के बाद मैंने नीला रंग की फूलदार टाई बाँधी । होटल में खाना शुरू कर दिया । खाना खराब होने के बावजूद भी पैसा का ख्याल करके खूब खाया । सिगरेट पी । पान खाया । और आफिस आकर दस्तखत बनाने के बाद गम्भीर मुद्रा बनाकर अपनी जगह पर बैठ गया ।

लोग आ चुके थे, आ रहे थे, आते चले जा रहे थे और मुझे लग रहा था कि ये नये-नये चेहरे मेरे भाई, चाचा, मामा, और दोस्तों से कितना मिलते हैं । बोलचाल का ढङ्ग भी बिल्कुल अपना जैसा है पास-पड़ोसियों जैसा है । कोई हम-उम्र आकर पूँछ जाता, "श्रीश बाबू आप एम० ए० हैं ?'

कोई सीनियर बाबू मुझे काम के मुत्तालिक परीशान समझकर कहता,

"अरे साहब ! ए० जी० आफिस में आये हैं, तो अब घबड़ाने की क्या ज़रूरत है ? धीरे-धीरे सब होगा ?'

टेबुल गन्दगी और फाँइलों के अम्बार से ढँकी हुई थी और उसे छूने की भी तबियत मेरी नहीं होती थी। असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेंट नाटा कद के बुड्ढे से आदमी थे। टोपी उतार कर ड्राअर में रखते हुए बोले,

"Good morning Mr. Shreesh."

"Thanks. Good morning."

और मैंने सोचा, "इनमें ऐसा क्या है, जो नफरत किया जाय ?"

तकरीबन लंच से कुछ पहले सुपरिन्टेण्डेट मेरी टेबुल से गुजरे तब मैं Romanticism in English poetry के पन्ने उलट रहा था। रुक गये। बोले, "अंग्रेजी भाषा और साहित्य में आपकी रुचि है ?"

"थोड़ा-थोड़ा" मैंने शालीनता से मुस्करा कर कहा।

टेबुल पर रक्खे हुए बड़े लिफाफों को देखा आपने ? फर्स्ट लिस्ट के schedule और vouchrs हैं। दूसरी लिस्ट आ जाने पर इन्हें एक दूसरे से मिलाकर Respective section को भेजना होगा।"

जब चले गये तो बगल की सीट पर बैठने वाले सरदार जी ने कहा, "कह दीजियेगा, हाँ देख लिया।"

उसकी सहृदयता देखकर मैं खुश होकर हँस पड़ा। बोला, "मालूम नहीं क्या है, इसमें ?"

सरदार जी ने काम की ओर ध्यान लगाते हुए कहा, ' दूसरा लिस्ट आने पर सब ठीक कर दूगा। जाइए लंच का वक्त है।"

मैं फिर हँस पड़ा।

ट्रेजरी आफिसर को objection statement issue करना था, सो मैंने बड़ी मेहनत से पुराना देखकर नया तैय्यार किया। पास नहीं

हुआ। फिर नकल किया और गल्तियाँ रह गईं। गल्तियों को समझाते हुए असिस्टेन्ट सुपरिन्टेण्डेंट साहब बाबू सहदेव प्रसाद ने जहाँ बहुत कुछ कहा वहाँ यह भी बताया कि महीना का नम्बर रोमन में न डाल कर अंग्रेजी अंकों में डालना चाहिये !

मैंने कारण पूछा तो बोले, "यह ए० जी० आफिस है ! युनिवर्सिटी नहीं है !"

अन्दर गुस्सा उठ ही रहा था कि मैंने हँसकर अपने को छल लिया।

दफ्तर का सांस उस दिन आधा घंटा, और डोलने वाला था। मैंने सोचा, आज तो बाबू सहदेव प्रसाद मुझसे इसे पूरा करा ही लेंगे, चुनांचा फिर नकल करने बैठ गया !

राधा हम-उम्र कलर्क था। पास आकर बोला, "आपको गन्ने बुला रहा है !"

"मुझे ?" मैंने आश्चर्य्य में आकर पूछा।

उसने कहा, "छोड़िये। अब कल होगा ! आप भी......"

कुर्सियाँ खींच-खींचकर काम छोड़-छोड़कर, लोग टुकड़ियों में बंटकर गपशप में लग गये थे।

गन्ने के पास आकर मैंने पूछा, "आपने मुझे बुलाया क्या ?"

राधा हँसा। कन्हैय्या हँसा ! भारद्वाज हँसे। और सीताराम भी हँसते हुए पास आ गये।

गन्ने ने कहा, "मैंने नहीं, राधा ने बुलाया है !"

मैं चलने को हुआ तो राधा ने कहा, "बैठिए, साहब !"

और बैठते हुए मैं सोच रहा था। नया चंडूल हूं, देखूँ, क्या गुजरती है।

अब सबकी निगाहें मुझ पर ! सब अन्दर अन्दर अपने को अपने-अपने ढङ्ग से मुझे बनाने के लिए तैय्यार कर रहे थे ! मुझे लग रहा था, कि इन बढ़ते हुए लाखैरों की कड़ी नजरों के इम्तहान से पास होकर गुजरना, ऐसा आसान नहीं।

बहुत सम्हालकर, इज्जतदार ढङ्ग से उन्होंने मुझे खींचना शुरू किया।

"सीधा युनिवर्सिटी से आये हैं, या और पहले कहीं काम किया !" लाल बहादुर ने पूछा।

"   "

"बड़ा तज्जुब है ?" राधा।

"   "

"बड़े भोले हैं। पढ़ाते कैसे होंगे।"

शर्म लगी। ऐसा Compliment तो कभी नहीं मिला था।

ऋषि लंगड़ा था और सन् '३० से आफिस में फाकेबाजी के लिए मशहूर था। मौका पाकर बात को उसने दूसरी ओर मोड़ दिया, "मैं ड्रामेटिक-कम्पनी खोलना चाहता हूं !"

राधा ने ठहाका लगाकर कहा, "आखीर रहा नहीं गया। चारा फेंकने लगे। इन्हें जानते हैं, आप ?"

"   "

"कई सरकारें इन्होंने देखी है ?" राधा।

"सरकार के दो मतलब ?" कन्हैय्या टपका।

"क्या ?" बी० एन० लाल।

"एक, हाय मेरी सरकार। दूसरा, सरकार, यानी कांग्रेस।"

ज़ोर का ठहाका हुआ। बाबू सहदेव प्रसाद चौंक पड़े, क्योंकि अस्व-

बार के पन्ने इधर-उधर फड़फड़ा उठे थे। बड़बड़ाती आवाज में बोले, "आप लोग इतनी तेज़ हँसते हैं?"

"जी।" ऋषी ने बहुत प्यारे ढङ्ग से बगावत की। और विचारे बाबू सहदेव प्रसाद फिर अखबार पढ़ने लगे। चार-पाँच लोग बाँके बाबू को छेंक कर मौकों की तालाश में गिद्धों-सा निशाना साधे घेरे खड़े थे और वह ऊँच स्वर में कहता जा रहा था, "अरे यार! हमें क्या? छुट्टी हो रही है, सोचता हूँ अभी और दफ़्तर होता तो अच्छा था? क्या करूँगा, घर जाकर।"

शुक्ला ने पूछा, "क्यों?"

कन्हैया गम्भीर होकर, "बगल में बैठते हो, पूछते हो क्यों? बदमाशी करते हो!"

हँसी का एक लहरा लोगों से होकर गुजर गया।

राधा—बीवी-वीवी है, नहीं। घर क्या जाय कद्दू?"

हँसी चलती रही और बाँके बाबू की आवाज़ ने सर ऊपर उठाकर आलाप लेना शुरू किया, "खैर चलो अच्छा हुआ? जोरू न जाँता, अल्ला मियाँ से नाता। होटल में खाना, अस्पताल में मरना। जाने कितनी परीशानियों से बच गया। एक बेटा है, सो पढ़ा लिखा दूगा, अपने भाग से जीयेगा, अपने भाग से कमायेगा।"

"बीबी ऐसी बीबी नहीं...झूठे हाय-हाय कर रहा है।" ऋषि ने बीड़ी सुलगाते हुए कहा।

"खैर। बीबी तो मेरी सौ औरतों में एक थी..." बाँके का कहना था कि लोग बेअख्तियार हँस पड़े। किसी ने कहा, "दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेते बाँके?"

बाँके बहुत बदसूरत था। और बेहद काला। बल्कि यों कहिये कि स्लेट उसके सामने गोरी है।

"आने पर है न ?" शुक्ला ने कोंचा।

बाँके का पुरुषार्थ जाग गया, "लड़कियाँ तो हजारों आ रही हैं !"

शुक्ला ने गुस्सा में कहा, "उजबक ? लड़कियाँ हजारों आ रही हैं ! कि लड़कियों के बाप।"

बाँके जरा नम्र होकर, "अरे वही यार।"

"अरे वही यार, क्या बे !" शुक्ला ने खीझ कर कहा, "लड़कियों और लड़कियों के बाप में कोई फर्क ही नहीं।"

बदमाश राधा ने आखीर करते हुए कहा, "बाँके तुम्हारे घर में खाना कौन पकाता है ?"

"अरे हमारे कोई है, नहीं क्या यार ?" हताश स्वर में उसने कहा।

"और चौका-बरतन कौन करती है ?"

जोर का ठहाका हुआ और मजमा मेरी ओर मुड़ा।

"अच्छा श्रीश साहब ! एक बात बताइये। शादी के बारे में आपका क्या ख्याल है ?" शुक्ला आये !

"कतई दुरुस्त !" मैंने टालते हुए कहा।

"नहीं जैसे बाँके की साली से अगर बातचीत शुरू की जाय......"

लोग हँसते-हँसते जाने के लिए उठ खड़े हुए। मैंने बहुत गम्भीर चेहरा बना लिया। लेकिन मुझे बुरा या अच्छा कुछ भी नहीं लगा।

पं० जवाहरलाल नेहरू के सर पर लोकतन्त्रात्मकता का सेहरा बंधा। सोना का भाव गिर गया। खंडसारी और तिलहन के बिक्रीदर में भी कमी आ गई। लोग चाँदी और गिलटों के रुपयों को सोना में बदलने के लिए उतावले हो गए। काफी कुछ परीशानी बढ़ी। राय-मशविरा होने लगा। जो खरीदार थे, उन्होंने खरीद लिया। जो बेचनहार थे, उन्होंने

बेच दिया। बाकी के लिए Speculation का बाजार गरम था। दूसरे दिन का अखबार बेचैनी से खोला गया। भाव और मद्दा हुआ। दुकानें बन्द हो गई। दीगर समाचारों में रायलसीमा का अकाल था। शंकर ने कार्टून छापा, "भूखे हो, तो सोना खाओ।"

शनीचर और सूर्यग्रहण साथ पड़ा। राज के घर जाने के लिए मैंने रिक्शा पर सामान रखना शुरू किया। चचेरे भाई घर पर नहीं थे। भाभी ने पूछा "क्यों जा रहे हैं!"

"बस यों ही।" रहस्यवादियों की तरह मुस्करा कर मैंने जवाब दिया। भाई ने मेरा जाना निश्चय समझकर चुपचाप स्वीकार कर लिया।

राज एम० ए० में पढ़ने वाला कामकाजी कवि था। मैं हार कर क्लर्की करने लगा। लिखना-पढ़ना भी माशा अल्लाह। वह बड़प्पन का भाव अनुभव करता था और मैं हीनता का। लेकिन चतुर खिलाड़ी की तरह दोनों ही इन भावनाओं को छिपाकर मिलते थे। वही गाली गलौज, वही तू-तू-मैं-मैं। वही याराना लहजा। लेकिन हम दोनों ही बदल चुके थे। और अपने-अपने घेरे से सम्हल कर निकलते थे। गरज, यह कि पुराने व्यवहारों का अभ्यास रह गया था. विश्वास जाता रहा था।

जो कमरा उसने मेरे लिए खाली किया था, वह बाथरूम के करीब था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा सा बदबू का जब तब आते रहना बड़ा जरूरी था। खूब धो-धोकर कमरे और आलमारियों को साफ किया। थोड़ी-सी किताबें थीं, उन्हे चुनकर लगा दिया। कपड़ों में दो एक साबित थे। बाकी गन्दे और फट चले थे। गठरी बनाकर धोबी को डालने के लिये छोड़ दिया। बिस्तर लगाया। लिहाफ का फटा हुआ हिस्सा बाहर निकलकर खीसें काढ रहा था, तो उस पर सफेद चादर डाल दी।

काला जूता के ऊपर का सिरा अपनी जात बदल कर सफेद हो रहा था। बड़ा बुरा लगा। सोचा जूते की हिफाजत के लिए पॉलिश की डिब्बी जरूरी है और साथ ही एक ब्रश भी। साबुन था, लेकिन साबुनदानी नहीं

थी। इस तरह साबुन जल्दी गल जाता है। साबुन के गलने के ख्याल से मैं खुद गलने लगा।

शीशा उठाकर शक्ल देखी। कई तरह से। कई ढंग से। यह भी कोई प्रेम करने लायक चेहरा है। बदसूरत होंठ, भद्दे दांत। आखों की की तरह नजर उठी। टेढ़ी-टेढ़ी सी खिंची हुई आंखें। चमकती हुई पुतलियाँ। लोग कहते हैं, ऐसी आँखों वाला आदमी बड़ा खतरनाक होता है।

शेव बढ़ चली थी, तो शेव करने बैठ गया। शेव करने में जाने क्यों लोग आसकत करते हैं। हजामत बनी रहती है, तो शक्ल अच्छी लगती है, नहीं मालूम होता है पचास-पचपन पड़गया है।

कितने खराब दांत हैं। पान की ललाई और काली कीट अब भी जमा है। किसी जमाने में हद भी हो कर दिया था. सिगरेट की कमी पान और सुर्ती से पूरा किया जाता था।

उफ्! दाग आज तक न छुटा। जैसे भी दाँत हों, साफ तो रक्खे जा सकते हैं। कोई लड़की इनसे प्रेम कर सकती है! थूकेगी भी नहीं।

कोयला और तम्बाकू के जड़ा से इन्हें उम्र भर साफ करोगे, और साफ नहीं होंगे कॉलगेट खरीदना चाहिए, और एक ब्रश भी। उगलियाँ ऊपर ऊपर फिर आती हैं, और दांत साफ नहीं होते।

शेव बन चुकी थी। 'क्रीम' की जरूरत महसूस हुई, बड़ी जोर की हँसी आई। शीशा में शकल देखी, तो लजा गया।

जरूरत है, कोई Luxery नहीं। हंसने की क्या बात है! फिर अपने को, खूबसूरत और स्वस्थ रहना तो चाहिए ही! A Healthy mind in a Healthybody.

बड़ी जोर की हंसी आई।

राज भागा हुआ, नीचे चला आया। उसका छोटा भाई छोटू भी आ गया।

"क्या है श्रीश!" राज ने पूछा,

"तन्दुरुस्ती के बारे में तुम्हारा क्या ख्याल है।"

"तन्दुरुस्ती हजार नियामत!" उसने झटपट कहा, "मैं तो सुबह किशमिश-बादाम खाता हू।"

"चुगद नहीं तो! मैंने कहा, "ऊपर का मिसरा मालूम है।"

उसने मजाक करने की कोशिश में जो कुछ कहा उसका जिक्र न करना अच्छा होगा! बुरा न होगा अगर इतना कह दिया जाय कि हँसी मजाक के लिए राज के पास दिमाग कभी नहीं था और तुरन्त जवाब देना तो उसके फरिश्तों के बूते के बाहर की चीज थी।

मैंने अत्यन्त दुख, प्रगट करते हुए बताया, "तंगदस्ती न हो तो, तन्दुरुस्ती हजार न्यामत।"

निहायत भोंडेपन से उसने जवाब दिया, "तो कौन तुम्हारे आगे-पीछे लल्लू-मुन्नू कें-कें कर रहे हैं। कौन लल्लू-मुन्नू की मां साड़ियों के लिए अनशन किये बैठी है।" और हंस पड़ा। मैं कतई हँसी में शरीक होकर अपनी रुचि की हीनता का परिचय देने के लिए तैयार नहीं था। सो चुप्पी मारे बैठा रहा।

"जवाब नहीं सूझ रहा है?" उसने फिर मजाक किया फिर बोला, "अच्छा सुनो, कुछ कविताएँ लिखी हैं। और राय दो!"

'अरे बाप रे!' अन्दर-ही-अन्दर मैं हाय मार कर बैठ गया, "अब क्या होगा!"

कहा, "अच्छा! नहीं मानते तो एकाधा सुना ही मरो।"

उसने एकका चौहद प्रयोगवादी कविताएँ सुनाई जिनमें आखिरी यह थी।

'जाने क्यों लिखने से पहले,
अधनंगी मानवता आकर,
कागज मेरा ले जाती है
तन ढंकने को।
भूखे प्यासे चूहे आकर
पी जाते, दावात उठाकर
और कलम सहमी की सहमी रह जाती है
कहीं टूटती हिचकी सुनकर।"

"अब गीत लिखना बन्द कर दिया? क्यां सनिमा देखे बहुत दिन हुआ...?" मैंने उकता कर कहा।

उसने हँसकर पूछा, "कैसो है? प्रयोगवादी है?

"इसमें क्या शुबहा!"

वह संतुष्ट हो गया। तो मैंने कहा, "लाइट मूड है। कोई गीत सुनाओ। तरन्नुम से।"

"गीतों का जमाना गदा।" उसने कहा, "अब तो कोई टका सेर नहीं पूछता।"

"कब से?"

हम हँस पड़े। बाद वह बोला, "एक गीतनुमा प्रयोगवादी कविता कल ही लिखी है। सुनो।"

"मैंने तो गीत सुनने का मजाक किया था, यार राज। तुम तो बुरी तरह पीछे पड़ गये!" मैंने तौलिया उठाते हुए कहा। लेकिन उसने कच्ची गोलियाँ थोड़े ही खेली थां। मुझे सुनना ही पड़ा,

"बहुत दिनों पहले जो तुमने पत्र लिखाथा,
भूले भटके, वही कहीं सोने के पहले,

कहीं दिख गया,
वही दर्द, उतनी बेचैनी, उतनी ही
मेरे खातिर मन में व्याकुलता !
क्या होगी अब भी प्रिय तुम में ?"

तौलिया गन्दी हो चली थी। शाम हो रही थी। इन दोनों का ख्याल मुझे परीशान कर रहा। राज' गंगा पूछ रहा था, "कैसी लगी ?"

"मजे की ?' मैंने जवाब दिया, और बच्चन का एक गीत गुनगुनाने लगा।

"हँस रहा संसार खग पर,
कह रहा जो आह भर-भर
लुट गये मेरे सलोने नीड़ के तृण-पात साथी।
प्रबल झंझवात साथी।"

"तुम तो रूमानी गीतों का मजाक बनाया करते थे !" उसने याद दिलाया।

"क्या करूं ! इस वक्त तो अच्छा लग रहा है।" मैंने उत्तर दिया, और बात को खतम करने के लिए वहाँ से हट गया।

"अभी तो कुछ ही दिन हुए ए० जी० आफिस की सोहबत हुई है।" कहकर राज' ने ठहाका लगाया, "क्यों बड़े बाबू ?"

सुनते ही मेरा दिमाग एक दम खाली हो गया।

थोड़ी देर बाद बोला, "मज़ाक कर मरे।"

घर से दफ़्तर दो ढाई मील पड़ता था। महीना का आखीर होने में अब भी देर थी। पैसा खतम हो रहा था। बहुत फूँक-फूंककर आना-दो आना खर्च करता था। तकरीबन चाय पीते-पीते आठ बज जाता। अखबार के बस पन्ने खोलकर मोटी-मोटी खबरों से जानकारी कर पाता कि पौने नव हो जाता। होटल आकर नौकरों को डाँट-डाँटकर खाना

खाता और फिर सरपट दफ्तर की ओर भागता। दस-बीस से आडिट अकांउन्टेन्टों का नाविक कलास शुरू हो जाता। इसके पहले सेक्सन पहुँचकर हाजिरी मारना पड़ती थी। नहीं 'क्रास' हो जाता। और तीन 'क्रौस' का मतलब था एक छुट्टी की गर्दन पर छुरा चला।

पैदल तो यों मैं चलता ही रहा था, लेकिन टाई लगाकर किताब और अखबार का पुलिन्दा दबाकर दफ्तर के लिए भागते जाना, जाने क्यों, मुझे हीनता की भावना से भर दिया करता था, और इस भाव को छिपाने के लिए चेहरे पर दुनियाँ और लोगों के प्रति उदासीनता का भाव उतार देना, मेरा बड़ा पुराना हथकंडा था।

मोटरों से मुझे सख्त नफरत होती क्योंकि ये गर्द-छिड़काव करके भाग जाते। टाँगों में चढ़ने वालों की ओर हिकारत की नज़र से देखता क्योंकि ये स्वयं मुझे अदना, हीन, और हास्यास्पद जन्तु समझते थे। ऐसे इक्कों को, जिनके घोड़े टापों के बीच में मुझे लेने की कोशिश करते, छोड़े, बाकी के सम्बन्ध में सोचता भी नहीं था, क्योंकि उनसे अच्छा तो मैं खुद चल लेता था। रिक्शा मुझे धमकी देते थे, इसलिये चलाने वालों को डाँटने और गाली देने की तबियत होती थी। साइकिलों को देखकर जी में आता "क्यों नहीं, ये पैदल चलने वालों को भी साथ ले लेते ?"

क्लर्क की नौकरी तो कर ली थी लेकिन क्लार्क होने का ख्याल मुझे डरा दिया करता या यों कहिये कि क्लर्क होना अपने में पाना बड़ा बुरा लगता था। आफिस में घण्टे-घण्टे नहीं कटते थे। काम एक तो दिल-चस्प नहीं था दूसरे वाकफियत कम, तीसरे न सीखने की कोशिश सब मिलकर मुझे किताब और अखबार पढ़ने के लिये मजबूर करते।

तीन का अमल था। काश्मीर के मसले पर शेखअब्दुल्ला का ऐति-हासिक भाषण छपा था, "हिन्दुस्तान धार्मिक देश है। काश्मीर-राज्य का विलयन मुमकिन नहीं!"

बाबू सहदेव प्रसाद उर्फ़ असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेंट ने अपनी आवाज से कोंचा, "मि० श्रीश Letter report देखा ?"

मैंने जवाब नहीं दिया ! दिन भर से पुराने शिडाउल और वाउचर छाँटते-छाँटते जान हलक में आकर सूखने लगी थी, पखुरा दर्द करने लगे थे। और अब ज़रा अखबार देख रहा हूं तो "मि० श्रीश ? Letter report देखा ?"

वह पास चले आये। बोले, "१६ ख़त आपके नाम से हैं ? इन्हें note कर लीजिए। और निकाल डालिए !"

"कर लेता हूं, साहब ?" मैंने गिड़गिड़ाते हुए कहा !

"कर लेता हूं, नहीं, कर दीजिए ! आज शुक्रवार है, नहीं शनीचर को चार बजे तक बैठना होगा।" उन्होंने कहा, "मुझे क्या ? आपकी ही भलाई के लिए कह रहा हूँ।"

"इसमें क्या शुबहा !" मैंने ज़रा हल्का लगाया। बाबू सहदेव प्रसाद लौट गये। मैं अखबार पढ़ने लगा। देखा, बाबू सहदेव प्रसाद फिर चले आ रहे हैं।

"साहब यह कोई अखबार पढ़ने का वक्त नहीं है ?"

मन में आया कह दूं, तो किस चीज का वक्त है। जवाब न देकर उनकी ओर घूरता रहा।

सुपरिन्टेण्डेंट, ब्राँच-आफिसर के यहाँ से डाँट खाकर लौटते हुए मेरे पास से गुजर रहे थे।

"नहीं साहब !" उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा, "अखबार-वखबार यहाँ मत पढ़ा कीजिए !"

"तो ख़त के cases के बारे में तो मुझे मालूम नहीं है, क्या करूँ ?"

"बाबू सहदेव प्रसाद के पास उन्हें लेकर बैठ जाइए। अभी हो जाता है!" सुपरिन्टेण्डेंट ने कहा! मैं फाइल से चिट्ठियां को निकालकर जो उनकी सीट की ओर बढ़ा तो देखा हजरत बढ़ चले थे। साढ़े-तीन, पौने-चार पर आये।

बाबू सहदेव प्रसाद अच्छे आदमी थे।

जब मैं स्वन लेकर उनके पास बैठा तो चाँद पर हाथ फेरते हुए बोले, "बड़ा सड़ियल आफिस है।

"आज दिन भर से सर उठाने का मौका नहीं मिला।" घड़ी की ओर देखकर, "जरा बताइए तो क्या वक्त है?"

मैंने दस-मिनट ज्यादा बताया, और फिर अत्यन्त सभ्यता पूर्वक याद दिलाया कि चिट्ठयों के निबटारा के मुत्तालिक फिलहाल आपकी क्या राय है?

धीरे से बोले, "रखिए साहब। होगा। कोई घर का काम नहीं है। होता रहेगा। मरना थोड़े ही हैं।" और फिर घरेलू बातचीत शुरू हुई, जब दफ्तर छूटने में आधा घंटा रह गया, तो बोले, "आज अखबार तक नहीं देखा। जरा दीजिएगा!"

मैं किताब पढ़ने लगा, और बाबू सहदेव प्रसाद उस दिन का अखबार लेकर घर चले गये।

रात राज का दोस्त परिहार फतेहपुर से आ गया था। सुबह चाय पीने बैठे तभी परिचय दोस्ती में बदल गई। अखबारी खबरों से लेकर शां के सटायर्स तक हम लोग बातचीत करते रहे।

उसकी महत्वाकाँक्षाएँ बहुत सीधी, सरल और साफ थीं!

रांची ए० जी० में काम मिल रहा था। लेकिन क्लर्की उसके बूते की बात नहीं है। फतेहपुर में गांव का एक स्कूल है, उसमें जब-तब वह लड़कों को पढ़ाया करता है।

स्कूल का जिक्र छिड़ा तो राज ने सेंट जोसेफ सेमिनरी का जिक्र किया जहाँ वह कुछ समय के लिए हिन्दी पढ़ाता है। विद्यार्थी बड़े शिष्ट हैं। फादर बड़े नेक हैं।......लड़कों को वह सरल हिन्दी, बोल-चाल की जबान में, विचारों को प्रगट करना सिखाना चाहता है लेकिन ग्रीक और लैटिन के विद्यार्थी सरल भाषा में लिखने से चौंकते हैं।"

मैंने अपना अनुभव कह सुनाया—मैंने भी जबान के मामले में लड़कों के सामने 'प्रमाद' की जगह प्रेमचन्द का उदाहरण रक्खा। और, "मैं सोच रहा हूँ" जैसे निबन्ध के लिये विषय दिये गये। सुथरी जबान में लड़कों ने अपने-अपने दुख-दर्द को मेरे हवाले कर दिया।

परिहार ने कहा, "जब तक बाल-शिक्षा और साहित्य का उचित और प्रचुर-मात्रा में निर्माण नहीं होता, साम्यवादी देश हो जाना बड़ा कठिन है। कांग्रेस तो बुरी तरह फेल हो रही है..."

राज ने क्षुब्ध होकर कहा, "धत् तेरा नास जाय...कांग्रेस सरकार ससुरी..."

रसोई से चाय पीकर हम लोग आंगन में इकट्ठे हो गये थे...

राज ने कहा, "लेकिन किसी पार्टी के सिद्धान्तों से बँधकर लिखना तो बड़ा मुश्किल है..."

मैंने बात का बतबढ़ होते देखकर कन्ना लिया, "जनाना गालियाँ तो आपने सीख ही लिया है और, जो हो।"

परिहार बेअख्तियार, हंस पड़ा। नव-पैतालीस हो चुका था। रगों में एक सरसरी दौड़ गई। भागता हुआ घर के बाहर निकलने की कोशिश में था कि डेबढ़ी नाखून से जा लड़ी। दर्द जैसे जम गया। लगड़ाता हुआ आगे बढ़ा...पार्श्व में राज हंस रहा था।

चौराहा पर इक्का लिया, तो दो और सवारियों की इन्तजार में वह

इधर-उधर नाचता रहा ! दस बजा...सवा दस होने को आया, और राधा का गौना जाने के लिए नव मन तेल क्यों इकट्ठा हो ?

आखीरकार हुआ, और ग्यारह बजे दफ्तर पहुँचा। भाग रहा था कि चप्पल से लड़कर पैजामा काफी फट गया। मुझे कुछ यों लगा, जैसे ससुराल आदमी पहली बार जाय, और इक्का से उतरते-उतरते सभी नये रिश्तेदारों के सामने धोती का पुछिल्ला खुल जाय।

सेक्शन में पहुँचा ही था कि बाबू सहदेव प्रसाद बोल उठे, "...क्य साहब आप रोज़ देर क्यों कर देते हैं ? ग्यारह बजे तो दफ्तर आने का वक्त नहीं होता ?"

किसी नवागन्तुक ने सलाम लगाया तो बोले, "...एक मिनट रुक जाइए !"

बड़ी जोर की हंसी आई। तो वह और गम्भीर होकर नाटक का पार्ट अदा करने लगे।

"आप रोज देर कर देते हैं ?"

बोला, "देखिए, साहब, ऐसे Melodramatic ढंग से आप मुझसे बात किया मत कीजिए।"

"क्या!" नाक को माथ की ओर खींचा। फिर बाबू नारायण प्रताप उर्फ असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेन्ट दोमश, को मुखातिब करके बोले, "देखिए, साहब जाने क्या—अंग्रेजी में इन्होंने फरमाया।"

"Melodrama" मैंने दुहराया, और हँसता रहा।

"क्या होता है !" असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेट दोमश ने पूछा।

"हम लोग तो सिर्फ इन्ट्रेंस पास हैं !" बाबू सहदेव प्रसाद ने सत्य कहा ! बाबू नारायण परताप ने व्यंग समझा। थोड़ा मुस्कराये और टेबुल पर झुक गये।

बाबू सहदेव प्रसाद ने सब डांट-फटकार व्यर्थ जाते देखा, तो कल सुनी हुई सुपरिन्टेण्डेंट की डांट का ख्याल करके बहुत मखाय-मखाय कर चीखने लगे, "...आप लोग काम नहीं करते। डांट हम लोगों पर पड़ती है! नौकरी लेने पर लगे हैं क्या!"

बीच-बिचवही के लिए कुछ लोग आ गये।

मैं यह कहता हुआ बाहर निकल गया, "क्लास के लौट कर आपकी बात सुनूँगा!"

क्लास के खतम होने का वक्त हो चुका था। घुसा ही था कि सब छात्र और पढ़ाने वाले सुपरिन्टेण्डेंट अध्यापक हँस पड़े।

ऊपर से एक शर्मीली हँसी हँसकर मन में सोच रहा था, "जायज़ है!"

सुपरिन्टेण्डेंट पढ़ाने लगे, "वफादार नौकर जिसने मालिक के लिए सच्चाई के साथ जिन्दगी भर काम किया है, खुश होकर मालिक उसे पेंशिन यानी बख्शीश देता है।"

छात्रों में सभी नवयुवक एम० ए०, बी० ए० पास थे। कुछ अध्यापन कार्य भी कर चुके थे।

हरीमोहन ने पूछा, "जैसे हम लोग 'बैरा' को खुश होकर 'टिप' करते हैं?"

हँसी हुई।

गोरे ने कहा, "साहब! हम तो वफादार मालिक को जिसने जिन्दगी भर सच्चाई के साथ काम लिया है, पेंशिन को उसे बख्श देंगे।

"खुश होगा न?" जौहरी ने कहा।

सुपरिन्टेण्डेंट हम उम्र थे। हँसकर पढ़ाने लगे, तो मुखर्जी, जो वॉयलिन बजाने के लिए मशहूर था, शालीनता से उठा, "साहब पेंशिन का अध्याय कल पढ़ाइएगा। वक्त हो गया है। लौटने पर 'सेक्शनल' सुपरिन्टेण्डेंट पूछ-ताछ करके मुसीबत में डाल देता है।"

सुपरिन्टेण्डेंट गम्भीर हो गये। बोले, "हम सब एक ईश्वर के बच्चे हैं। सब बराबर। न तो किसी से डरना चाहिये, और न किसी को डराना। काम पूरा करना चाहिए और मुंह तोड़ जवाब देना चाहिए! हिन्दुस्तान है न? सिर्फ तकदीर से यहाँ कोई राजा हो जाता है कोई रंक! इठलाना नहीं चाहिए।"

विद्यार्थी बड़े खुश हुए—कितनी ठीक बात है, और अपनी-अपनी 'सेक्शनल' मुसीबतों को बयान करने लगे!

मैंने धीरे से आजिजी के साथ हाजिरी बनवाते हुए कहा, "वैसे आप किस सेक्शन में हैं? वहीं बदली करा ली जाय।"

हँस पड़े। क्लास छूट गया।

खाना खाया नहीं था। इसलिए भूख लग रही थी। कुछ कमजोरी मालूम होने लगी। अन्दर-अन्दर सोचने लगा, "खाया तो मैंने तीन-तीन दिनों तक लगातार नहीं है। लेकिन ऐसी कमजोरी तो कभी महसूस नहीं की।"

अब दिन-पर-दिन जवानी का सुरूर उतरता जा रहा। बुढ़ापा आ रहा है, न? अब मनमानी नहीं हो सकती। सेहत के साथ अब खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। मैंने अपने को समझाया।

लेकिन पहले पढ़ाई-लिखाई के लिए कई फाकों को हंसी के ठहाकों से उड़ा दिया करता था......लेकिन अब किस लिए? अब किस लिए!!

भूख लगी है, यह एक सही बात है। मुझे खाना, चाहिए, दूसरी सही बात है।

मैंने लंच-रूम पहुँचकर तकरीबन डेढ़ रुपये का खाना खाया। चीज़ें मंहगी मिलती हैं, और उधार पर मिलती हैं।

लौट रहा था कि हिन्दी के एक प्रयोगवादी कवि, जो दफ्तर में काम करते थे, आते हुए दिखलाई पड़े। मोटे-मोटे से हैं। सर के बारे में क्या

बयान करूँ ? गोया उनका अपना हैं। गरदन के बारे में नवें दर्जा पर पढ़ाई हुई बायोलोज़ी की एक चीज़ याद आती है, "मेंढकों के गरदन नहीं होता !"

छूटते ही बोल पड़े, "कहो पार्टनर, आओ तुम्हें चाय पिला लायें ?"

पहले तो सहमा, ऐसा तो नहीं है कि इन्होंने जेब में कोई कविता रख छोड़ी है। मैंने अन्दाजते हुए कहा, "क्लास ख़तम हो चुका है। बीस मिनट और बीत चुका है। और देर होगी तो बाबू महदेव प्रसाद मेरी गरदन पर चढ़ बैठेंगे।"

"बाबू सहदेव प्रसाद ! यानी महदेवना !!" लापरवाही से उन्होंने कहा, "मेरे सेक्शन का क्लर्क-इनचार्ज था। जरा कुछ तीन-पांच किया कि ऐसी गोटियाँ बैठाल दीं, कि साला चारशीट होते-होते बच गया !"

ऐसे नेक आदमी के साथ तादात्म अनुभव करने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता था ?

फिर उन्होंने मुझे यह बताया कि किस तरह से ऐसे लोगों को बड़ी आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है।

और सचमुच ऐसा लगा कि जिन मनोवैज्ञानिक हथकण्डों को इस्तेमाल करने की सलाह मेरे लायक दोस्त ने अभी मुझे दिया है, उन्हें कोई जान-कार ही जान सकता है।

बड़े भाव से उन्होंने अपने लिए भी आमलेट मंगवाई और मेरे लिए भी। अपने लिए भी चाय मंगवाई, और मेरे लिए भी।

खाने-पीने के बीच में कहते गये, "तुमने कुछ लिखा ? देखा नहीं, पिछले साल भर में ही, मैंने क्या तगड़ा उछाला कि हिन्दी के प्रयोगवादियों में नाम गिना जाने लगा ! तुम तो हो बुद्धू ? कुछ लेख-बेख देशी-विदेशी साहित्याचारियों पर लिखो, और अपने लेखकों

का नाम ज़रा कहीं-कहीं बैठा दो ! फिर देखो, जब उनसे मिलोगे, तो कहेंगे, श्रीश जी ! इधर बहुत दिनों से आपकी कोई चीज़ छपी-छपाई नहीं, कुछ दीजिए, छापा-छपवाया जाय !"

कौन ऐसा होगा, जो उनकी इस बात का दाद नहीं देगा।

उन्होंने आगे कहा, "......तीन साल तक लगातार Feeling full moment का इन्तजार कर-करके, जिन्दगी जी-जी कर कहानियाँ लिखीं और किसी ने टका भाव नहीं पूछा। और अब साल भर में ही... Its all stunt Friend" उन्होंने चाय खतम कर ली, और रजिस्टर की ओर बढ़े। पन्ना फड़फड़ाता रहा, लेकिन उन्होंने कहीं कुछ लिखा नहीं ! बोले, "मेरा नम्बर वाला पेज मिलता नहीं है। जरा अपना बताओ !"

कहना चाहता था, वह तो मैं पहले से जानता था।

उन्होंने सारा खर्चा मेरे पन्ने में दर्ज कर दिया।

मैं सुन रहा था। जी में आ रहा था कि उसकी मोटी गरदन को यों दबाऊँ कि सारा खाया-पीया बाहर बिखर जाय।

लेकिन शालीनता से सिगरेट पीता रहा।

भाई ने हिन्दी में भाव और भाषा के साथ जो प्रयोग किये हों वह तो मुझे मालूम नहीं। मेरे साथ जो किया, वह जन्म-जन्मान्तर याद रहेगा।

सीट पर पहुँचा तो Explanation का कागज पैड से लिपटा मिला।

Mr. Shreesh is alleged to have been absent from the section for more than an hour beside his training class. He should kindly explain the position for submission to Branch officer.

थोड़ा डरा, थोड़ा गुस्सा आया। अभी-अभी मिले हुए दोस्त का प्रयोग भूल गया, उसके अन्दर छिपे हुए सही लिखने वाले के चोट की सच्चाई से अपने को अलग नहीं कर सका।

बाबू सहदेव प्रसाद के पास उठ कर आया, "नोट आपने रक्खा है! बात यह है जी, कि खाना खाकर आया नहीं था...इसी में देर हो गई।"

उन्होंने सहानुभूति प्रगट की। बोले, "क्या करें, यार, हम लोग भी तो बड़े मजबूर रहते हैं। बड़े साहब का दिमाग खराब है। जरा में जद्द-बद्द कहने लगता है। बड़ा बदमाश है। काम कीजिए, जमाना बड़ा खराब लद गया है! इस note पर कुछ लिख दीजिए!"

जब लौटने को हुआ तो घड़ी का वक्त पूछा, डेढ़ बज चुका था। लंच शुरू होने वाला था। बोले, "अखबार लाये हैं!"

"नहीं। लोग पढ़ने लिखने देते नहीं हैं। क्या लाऊँ?"

टेबुल पर पहुँच कर खतों का फाइल निकाला। रिपोर्ट में जो नम्बर दिये हुए थे, उनको देख-देखकर खत इकट्ठा करने लगा। पाँच-छः मिलते थे। दस-बारह गायब थे! खोजता रहा, लिफाफों के नीचे, Despatch cases में, ड्रार में और पैड के नीचे, चार-पाँच और मिले। बाकी भटके हुए खतों को ढूढ़ने के लिए Letteer Diary उठा लाया। कुछ पर याद पड़ा, कुछ लिख-लिखा दिया गया है। कुछ दूसरों के नाम से थे। डांयरिस्ट श्रीमान् ने नया समझकर मुझ पर ही लाद मारा था। बाबू सहदेव प्रसाद को दिखलाकर उन्हें कटवा दिया। दस-बारह खत ज्यों-के त्यों संदेह खुरदुरे, काले धब्बे वाले सिल की तरह पलकों के बीच जम गये थे!

उस वक्त ऐसा लग रहा था कि जैसे थोड़े-ही दिनों में अब मेरी आंख से पानी गिरने लगेगा और चश्मा लेना होगा। शाम हो चुकी थी। हिल डुल कर सारे अंग ढीले पड़ गये। दफ्तर के खतम होने का वक्त हो चुका था। आधे से ज्यादा लोग जा चुके थे।

मैं 'सीट' से उठा ही था कि सुपरिन्टेण्डेंट ने कहा, "Well Mr. Shreesh that wont do. 12 letters are still outstanling."

बाबू सहदेव प्रसाद ने रुखाई और कड़ाई के साथ कहा, "काम आप लोग नहीं करते, बुरा भला हमलोगों को सुनना पड़ता है !"

मैं जगह पर फिर बैठ गया लेकिन अब तो मैं किसी तरह नहीं बैठ सकता । बैठूँगा तो मेरी आँख फूट जायेगी । सांस लूँगां, तो फेफड़ों में कीड़े लग जायेंगे ।

दूसरे दरवाजा से होकर बाहर निकल आया । होगा, सो देखा जायेगा ।

"अकेला ! बिलकुल अकेला !!" दीवालों पर लगे और लिखे पोस्टर्स को पढ़ता हुआ, मैं बढ़ा चला आ रहा था । इन्हें मैंने जाने कितनी बार पढ़ा है ! अब नहीं पढ़ूँगा ! नजर फिर किसी तरफ उठ जाती और कोई पोस्टर पढ़ लिया जाता ।

उफ् ! लगता था, जैसे जबड़ों के बीच में रोटी का टुकड़ा नहीं, गीला साबुन भर दिया गया हो, लगता था, जैसे गांव की मास्टरी की सुथरी जिन्दगी छोड़कर ए०जी० आॉफिस के गलाजत में गिर पड़ा होऊँ ! सिर्फ ज्यादा मिलनेवाले सत्तावन रुपयों के लिए । सिर्फ !!

पैदल चलने वालों की कुछ आदतें बन जाती हैं । मसलन, जल्दी में हुये तो किसी अनजान साथी से वक्त पूछकर दोस्त बना लेना, जल्दी में न हुए तो कहीं भीड़-भाड़ मार-पीट गाना-बजाना के पास इकट्ठे होते, रुकते, और आगे बढ़ते जाना । परीशान हुए तो गीता-धर्म के अन्तर्गत् जिन विरक्त आदमियों का तस्किरा आया है, उनकी तरह, दुनियाँ के और आदमियों की परीशानियों से अपने को अलग समझ कर, कभी बुदबुदाना, कभी अन्दर ही अन्दर घुटते जाना । किसी साइकिल वाले

जाने-पहचाने साथी को देखकर मुस्कराकर पहले नमस्ते करना। अगर जान पहचान वालों में से किसी की कार गुजर गई तो ऐसी चेष्टाएँ करना कि जिनसे साथ चलते हुए अनजाने लोग भी जान जाँय कि कार के मालिक से उसकी बड़ी गहरी दोस्ती है। पटरियों पर बिकने वाले सामानों को जहाँ-तहाँ खाते जाना, और पान खाकर कहीं भी थूक देना।

पुल पर चढ़ रहा था कि उधर से फालसाही रंग की सूती धोती पहने एक पन्द्रह-सोलह साल की गोरी-सी छरहरे बदन वाली देहाती लड़की उतरती आ रही थी। कुछ सेकण्डों तक हम लोग एक दूसरे की ओर देखते रहे। जब वह कुछ दूर गई। तो रेलिंग पकड़कर पलटते हुए एक बार फिर देखा, और आगे बढ़ गया।

पुल के बीच का हिस्सा इस्पात की चादरों से घिरा है। इसलिये काफी अंधेरा रहता है। इस अंधेरा में पलने वाले उसके कुछ बासिन्दे हैं—फकीर, भिखमंगे, दूसरे शहरों से शामिल किये हुए गिरहकट, नकटी, कोढ़िन बूढ़ी, अंधी, और फूली गरदन वाली औरतें——जो भगवान के नाम पर जीते हैं, भगवान के नाम पर मर जाते हैं।

नकटी औरत जिसका बदन दिन-पर-दिन पानी से भर कर फूलता जा रहा था, जवान थी। और अब मरने ही वाली थी। बहुत सोच-समझकर, कई बार जेब के अन्दर पैसों को गिनकर एक पैसा दिया, एक नजर फेंकी और चल पड़ा।

...... तो दया इसी को कहते हैं ?

........तो मेरी तरह घरों में रहने वाले, आफिसों में काम करने वाले, जब किसी पर दया करके कुछ देते हैं, तो ऐसा ही अनुभव करते हैं ?

बड़ा मुश्किल है, सबके अनुभव के बारे में कुछ कह सकना, क्योंकि न तो सब सच्चाई के साथ कहीं अपनी अनुभूतियों को लिखते हैं, और न कहते हैं। कहते तो हैं, लेकिन जितना उनके बाप-दादों की कमाई

इज्जत, उनका पेशा, उनका चेहरा, उनका कपड़ा, कहने की इजाज़त देता है, उतना ही! सिर्फ परलोक बनाने की गरज से लोग दान देते देखे जाते हैं! बड़ा मुश्किल है, ऐसे सब दानवीरों के बारे में कुछ कह सकना।

मसलन औरत से सन्तुष्ट रहने वाले लोग पराई औरत को पैसा-दो पैसा देते चारों ओर देख लेंगे बगलें झांकेंगे और फिर मुझ जैसा, एक दो बात करने की लालसा को अन्दर दबाये, नज़र फेंककर आगे बढ़ जाँयेंगे! मसलन लोग फकीरों और दरवेशों को भी तो, दया करके भीख देते हैं।

ऐसे लोग औरत से संतुष्ट होंगे?

लेकिन पैसा ज़रूर गिना जाता है—दया इसी को कहते हैं?

साल-डेढ़-साल पहले का एक वाकया याद आ रहा था—

पटरी पर एक दुकान थी, रद्दी, पुरानी किताबों की। वहीं खड़ा था। शायद कोई काम की किताब सस्ती मिल जाय।

एक आदमी गुजरा। बुड्ढा था। नूर खुदाई थी। बाल तितर-बितर। रूखे-सूखे। पायजामा फटा था। कमर दोहरी थी। आँखें पथराई थीं। काली सदरी फट चली थी। चेहरे पर बदहवाशी थी।

लड़के पिलपिली साहब कहकर उसे चिढ़ाते और जूठे कुल्हड़ों को उसकी पीठ पर तोड़ते जा रहे थे और बुड्ढा था कि पीठ पर चोट बरसाने वालों की ओर देखता भी नहीं था। जैसे उसका कुछ खोया है, जिसका मिल जाना बड़ा जरूरी है, और ऐसे ही जरूरी काम से वह जा रहा हो।

जाड़ों के दिन थे।

शाम शहर से तीन मील दूर पिलपिली साहब भागते हुए दिखलाई पड़े। किसी निश्चित दिशा की ओर नहीं। बस। यों ही। इस बार बच्चे उनके पीछे नहीं थे।

चौथी शाम को देखा शहर की एक सड़क पर वही पिलपिली साहब घिसटते-घिसटते आगे की ओर डोलते जा रहे हैं।

मेरे पास सिर्फ एक रुपया था, और निकट भविष्य में कहीं से धेला भी मिलने की उम्मीद नहीं थी।

बेकारी मौजें ले रही थी, और उसके मौज की हर लपट मेरी जिन्दगी के रफ्तार को कम, और कम करती जा रही थी

चलते रहने की ऐसी क्या मजबूरी है। मैं सोच रहा था, आखिर नहीं चला जाता तो ऐसे में आदमी बैठ सकता है, लेट सकता, सो सकता है, मर सकता है........

पिसपिली साहब, आगे की ओर घसिटते जा रहे थे... ..

मैंने आकर उनकी बाहों को पकड़ लिया, अन्दर कोई कह रहा था, चलना ही तो जिन्दगी है। जिन्दगी को नहीं मरने दूंगा। चाल को नहीं खतम होने दूंगा। फिर मरेंगे तो साथ। तुम्हें गिरने नहीं दूंगा, दोस्त? वह मेरी बाहों में इकट्ठा हो गये थे।

कितनी मजबूरी थी; भागना चाहता था। लेकिन भाग नहीं सकता था। पैसों को बचाना चाहिये था, लेकिन बचाना गैर मुमकिन था।

मैंने सिगरेट खरीदी।

एक दया है। दूसरी विवशता।

क्यों नहीं, घरों में रहने वाले, ऑफिसों में काम करने वाले ऐसी-ही विवशताओं के शिकार होकर गिरे हुए, गिरते हुए लोगों को उठा लेते? ऐसा क्यों नहीं है, कि ऐसी विवशताओं के क्षण स्थाई हो जाते!

'अहमकों, जैसी बातें तो करते नहीं!' मैंने अपने दिमाग के चलते रहने से परीशान होकर प्रायः बुदबुदाते हुए कहा! सामने बड़े-बड़े पोस्टर्स पर नजरें पड़ी, मन कड़ुवाहट से भर गया..., कितनी बार समझा दिया इन पोस्टर्स को न पढ़ो बेवकूफों की तरह पढ़ते ही जाते हो!

कल फिर दफ़्तर जाना है...

परसों फिर दफ्तर जाना है...

और इसी तरह रोज-रोज़ दफ्तर ज़ाना है।

आखीर अब इस वक्त फिर लौटकर तो दफ्तर नहीं जाना है?

" "

"तो फिर छोड़ो! वक्त आयेगा, देखा जायेगा।"

और जब खूँटी पर कोट उतार कर टांगा, तो लगा जैसे ए० जी० आफिस का लबादा मैंने उतारा दिया हो, और अब बड़ा आराम महसूस करता होऊँ।

चिराग ज़लाकर गलियारा में खुलने वाले दरवाजा को भी खोल दिया। घर में कोई नहीं था। बड़ा अजब महसूस होता है जब शाम हो और घर में कोई न हो। और खासतौर पर, जब मकान के दूसरे-दूसरे हिस्सों में सिनेमा देखने वाली जवान लड़कियाँ रहती हों। ऐसे में नायक की-सी अनुभूति लाज़िमी है।

बगल के हिस्सा में एक सांवला सी लड़की रहती है। जरा जवानहो रही है। कभी-कभी गोद के भाई को लेकर दरवाजा पर आ खड़ी होती है।

एक दिन कहने लगी, "आपका चेहरा दिलीप कुमार से बहुत मिलता है।"

मैंने उसे गुदगुदाने की कोशिश करते हुए कहा, "तुम्हारी आवाज बहुत अच्छी है। बिल्कुल सिने-तारिकाओं जैसी।"

शर्मा गई। बोली, "अच्छा बताइए, किसलिए बुलाया था?"

"सूई-तागा ला दो।"

"लाइए मै सिल लाऊँ।"

"ज़हे क़िस्मत। लेकिन तुम क्यों तकलीफ़ करोगी?"

इसी बीच मैंने जो आंखों को तरेरकर देखा तो गोद का बच्चा रो पड़ा।

"जाइए भाई आपने तो रुला दिया। यह कैसी आदत है..." किसी के आने जाने की आहट सुन पड़ी।

लड़की चली गई......

आज दिखलाई नहीं पड़ती?

कैमा नायक जैसी अनुभूति मुझे हो रही है।

अब मुझे कुछ गाना चाहिए? गाने लगा, चिल्ला-चिल्लाकर, लेकिन कानों को बुरा लग रहा था। इतना कि अगर बन्द कर दिया जाय, तो कुछ हर्ज न होगा।

गीत की लाइनें जानी पहचानी थीं. स्वरों का अभ्यास था, लेकिन तड़पड़ाहट, बेचैनी, जो गाने के लिए मजबूर कर देती थी, गायब हो चुकी थी। यह बात इतनी साफ़ थी कि छलना मुश्किल हो गया।

मैं चुप हो गया। मुँह हाथ धोकर, अब खाना खाने जाना है। और तब लौटकर, पढ़ूँगा, लिखूँगा...

खुले हुए दरवाजा पर नजर गई, लड़की नहीं आई...

क्या अजीब लड़की है। अगर मेरा चेहरा दिलीपकुमार से न मिलता तो प्यार की दो बातों के काबिल भी मैं नहीं था? सूअर। गरीब।

लड़की आई नहीं शायद आती हो।

मेरे पास इतना फालतू वक्त नहीं है कि मैं खामखाह झूठमूट की इन्तजारी में बिता दूँ।

कहाँ जाना है, जरा रुको तो? शायद आती ही हो।

मैं कतई 'सीरियस' हूँ। थका और भूखा हूँ?

दरवाजा मैंने बन्द कर दिया।

कंघा कर रहा था। करीने से बाल सज गये, तो सर को झटका दे देकर बाल बिखरने लगा। अजित ऐसा ही करता था।

कुछ चेहरे ऐसे होते हैं, जिन्हें अगर सँवार कर रक्खा जाय, तो मुँह फोड़े जैसा निकल आता है। ऐसे चेहरों पर बड़े, बेतरतीब बाल अच्छे लगते हैं।

सिगरेट सुलगाई और दीवाल पर पड़नेवाली खूबसूरत परछांई को बड़ी देर तक देखता रहा। कलाकार जैसा लग रहा हूं, लेकिन कला जिन्दगी से निकल गई है। खूबसूरत हो गया हूं, लेकिन प्यार करने का माद्दा जाता रहा है। बहुत भूल-भटके रहने का चिह्न चेहरे पर बच रहा है, लेकिन अब तो मुझे हर बातें याद रहती है कहीं डूबने के लिए चुल्लू भर पानी नहीं मिलता।

पटरियों से लगा हुआ निम्न-मध्यमवर्गीय लोगों का एक होटल। दो नौकर। एक मालिक।

भाई बैठे खाना खा रहे थे। चुपचाप। गम्भीर मुद्रा में। इम्तहान के दिन करीब आ गये, और वह कमजोर नज़र आते हैं। खांसी बढ़ गई है। आँख भी उठ आई है! किताबें एक नहीं। दोस्तों से मिलती नहीं!

"घी नहीं मंगवाया आपने?" मैंने पूछा।

"हाँ। यों ही!" उन्होंने कौर मुंह में डाल लिया।

बहुत शौकीन खाने-खिलाने वाले हैं। पैसा होने पर गोश्त-कलेजी के बिना लुकमा नहीं उठाते, और खाना खतम करने के बाद आमलेट और दूध बड़ा जरूरी है। ऐसे-ही पहनने का शौक है। सूट पहनेंगे, तो सबसे कीमती। जूता पहनेंगे, तो सड़क पर अकेले नजर आयेंगे! खूबसूरत से तन्दुरुस्त से आदमी...। लेकिन जब से स्टेट की नौकरी छोड़कर पढ़ना शुरू किया........

उनका इतना गम्भीर और दुखी चेहरा अब मुझसे देखा नहीं जाता......
मैंने खाना मंगवा लिया......

"पढ़ाई कैसी चल रही है ?" मेरा प्रश्न था।

"क्या पढ़ाई चल सकती है ? पढ़ने के वक्त इतना धुँआ होता है और भाभी, भइया हैं, कि एक-न-एक नई परीशानियां में डाल देते हैं..."

"पढ़ाई तो अब आपको करनी ही चाहिये ?" मैंने परिस्थितियों की गुरुता की ओर इशारा किया।

"किताबें भी तो पूरा नहीं हैं।"

मैंने घी की कटोरी उनकी ओर बढ़ा दिया !

"खाओ।" "उन्होंने कहा, "लगता है यह साल खराब जायेगा।" कुछ और लोग आकर बैठ गये। हम लोगों ने बातचीत बन्द कर दिया......

पन्द्रह रुपया मेरे जेब में पड़े थे, बीस के करीब की कोई तारीख थी !

अब मैं इन्हें लौटाकर नहीं ले जा सकता !"

"क्यों ?"

"अब मैं इन्हें लौटाकर नहीं ले जा सकता !"

"भावुकों की तरह बेवकूफ मत बनो ! अभी दस-बारह दिन और गुजरना है। बुरे दिन आ जायेंगे।"

"गलियों में फेंक आऊँगा !

सेनिमा देख डालूँगा......

चाय पी डालूंगा......

घी खा लूँगा......

किताबें खरीद डालूंगा।

"कहानी में तो असली जिन्दगी में बिना पैसा दिये ही लिखा जा सकता है कि पैसा दे दिया ।"

"Hush ! what Nonsense."

"बेवकूफ मत बनो !"

"न बनूं । लेकिन अब दिये बिना रहा कैसे जायेगा ?"

बाहर निकलकर भाई की तरफ मैंने दस रुपये का नोट बढ़ा दिया ।

"रक्खो ! तुम्हारे काम आयेंगे !" उन्होंने ठण्डी आवाज में कहा ।

"इससे अच्छा खर्च मैं नहीं कर सकता !"

"रक्खो ।"

"ये रुपये बिल्कुल बेकार ख़र्च हो जायेंगे......"

उन्होंने कहा "अभी दस बारह दिन और हैं ? रक्खो !"

"चल जायेगा ! चिन्ता न कीजिए !"

लौटने लगा तो बहन का आया हुआ ख़त दिया और कहा, कभी-कभी ख़त लिख दिया करो । बिचारी परीशान रहती है ।

कमरा । रोशनी ! किताबें । लिखी-लिखाई, नई-पुरानी चीजों से भरी हुई संदूक ! कलम ! थकान । जोड़-जोड़ का खुलना ।

सिगरेट सुलगाता हूँ......

दिन भर की जिन्दगी जी ली जाय ।

पेट भरा हो । बिस्तर पर पड़कर सिगरेट सुलगा ली जाय तो सोने के अलावा कुछ सूझता ही नहीं ।

"क्यों लिखूँ ? किसी के बाप का कर्ज खाया है । रुपयों की मुझे ज़रूरत नहीं । कुछ दुखी मैं हूं, नहीं ।

"क्यों पढ़ूँ ? मेरी असलियत में फर्क तो आयेगा नहीं...मेरी नौकरी तो जायेगी नहीं। जाने कहाँ-कहाँ की ऊल-जलूल घटनाओं और चरित्रों से किताबें भरी रहती हैं। कौन बहुत रेशमी-लच्छेदार भाषा में बोलता है ? Fools. Writing melodramas. Using vulgar verbosity. I wo'nt read these Books.

जैसे जीना स्वयं एक कला है और न लिखना, लिखना से ज्यादा महत्वपूर्ण है।

बहन का आया हुआ ख़त सिरहाना रक्खा रहा, और मैं ख़र्राटे भरने लगा।

आफ़िस। शिडीउल और वाउचर्स की गड्डियाँ। ख़ाली भरे बिखरे हुए लिफ़ाफ़े। फाइलें। शोर और चेहरे।

फ़िलिप ऋषि से कह रहा है, "आखिर मुझे भी दियासलाई कि कीमत देनी पड़ती है।"

ऋषि अधबुझी बीड़ी हाथ में दबाये कह रहे हैं, "तुम अच्छे और नेक लड़के हो ? लाओ। दो। आज और दो !"

"नहीं साहब ! मैं नहीं देता !

बांके की सीट पर बाबू सहदेव प्रसाद चढ़कर चिल्ला रहे हैं, आपको इटावा और मैनपुरी ट्रेजरी के एकाउएट को आलमारी में रखना होगा !"

"मैं क्यों करूँगा साहब !" बांके चिल्लाता है, "फालतू मैं ही थोड़े न हूँ !"

सुपरिन्टेएडेन्ट आ जाते हैं। बहुत गम्भीर मुद्रा में कहते हैं, श्री बांके

यदि आपकी यह बात सांच आॅफिसर तक पहुंचा दी जाय, तो आप कहीं के न रहेंगे।

बाँके चुप हो जाता है।

डिटेल-बुक के नीचे से निकालकर बहन का दूसरा खत पढ़ता हूं।

प्रिय श्रीश,

शुभाशीर्वाद,

यहाँ सब कुशल है। आशा है तुम भी कुशल पूर्वक होगे इधर बहुत दिनों से तुम्हारा कोई हाल नहीं मिला। इससे जी लगा हुआ है। होली की छुट्टी में तुम लोगों की राह देखती रह गई लेकिन तुम लोग न आये। तुमको मैंने कई एक पत्र लिखा, पर तुमने एक का भी जवाब नहीं दिया। क्या बात है? खत तो लोग परायों को लिखते हैं, फिर मैं तो तुम्हारी बहन हूं। बच्चे सब अच्छे हैं। राधा बनारस गई है! अनुपम तुम्हें याद करता है।

तुम्हारी बहन

किरन

खत के खाली जगह में मैं लिखता हूँ......

१२—लंच रूम

१०—सिगरेट वाला

१५—घर

४—अखबार वाला

५०—होटल

सोच रहा हूं......अभी और है...अभी और है...

चपरासी ने आकर सुपरिन्टेंडेएट को सलाम दिया। सुपरिन्टेंडेएट ने आकर मुझे सलाम दिया। चुनांचा मैं ब्रॉंच-आफिसर के सामने हाजिर हुआ......

"२५ खत, और २६ मिमोज़ बाकी हैं।"

"   "

"कहाँ तक पढ़ा है?"

बेहूदा! उल्लू!! मैट्रिक पास। बोलने का शहूर नहीं है।

"इससे मेरे काम से क्या मतलब है?"

"तुम कम्पूनिस्ट मालूम होते हो?"

'परिस्थियाँ आदमी को जो न बना दें!"

"तो तुम कम्यूनिस्ट हो?" ज़ोर से चिल्लाता है।

"जी नहीं। मैं तो कह रहा था......"

'क्या कह रहा था......

"कह रहा था कि जैसे परिस्थितियाँ आदमी को चोर बना देती हैं...

"बकवास करता है। आडिट और एकाउएट्स आफिसर के सामने खड़ा है।"

साला टामिकों की नकल करता है। मुस्कराता हूं।

"हँसता है।"

"   "

"you are all offence personified"

"   "

"तुम्हें खड़े होने का तरीका नहीं मालूम । हाथ बाँधकर खड़े होओ !"

"   "

"खतों और मिमोज के बारे में क्या कहता है ?"

"बीमार हो गया था...एक हफ्ता की छुट्टी पर था..."

"एक हफ्ता की छुट्टी बड़ी छुट्टी नहीं होती ।"

"नया हूँ......"

"ग्रेजूएट हो ......"

"कब तक खतम होगा ?"

शनीचर और इतवार को पूरा दिन काम करने का हुक्म होता है ।

बेकारी और भूख दो ऐसे शब्दवेधी इनके पास हैं कि भागे हुए बागियों को भी लाश बनाकर टेबुल पर ये खींच ही लाते हैं । सुबह चाय पीने जा रहा रहा था कि सुना एक फकीर गलियों में घूमता हुआ चिल्ला रहा था ।,

"या अल्लाह ! सबका भला । सब ठीक है ।"

मैं भी कुछ नहीं चाहता । कोई आलोचक नहीं हूँ । सब ठीक है ।

आॅफिस जाना चलता जा रहा है, क्योंकि भूख रोज लगती है और पेट की कुँजी एकाउएटेन्ट जेनरल के पास है । एकाउएटेएट जेनरल की कुँजी आॅडिटर जनरल के पास है । और आॅडिटर जनरल की कुंजी सभासदों के पास है। सभासद यानी वह लोग, जो मतदानमें हारे, मत-गणना में जीत गये ।

जाता हूँ आॅफिस । जाता हूं । साइकिल ले ली है । होटल में चम्मचों को साफ रखने पर जोर देता हूं । गिलास साफ नहीं होता, तो बच्चों को

डांटता हूं। कभी-कभी झापड़ भी लगा देता हूँ। ज्यादा अच्छा तो नहीं लेकिन झापड़ लगाने भर को कपड़ा पहन लेता हूँ। साइकिल होने के, बावजूद रिकशा पर कभी-कभी शौकिया चढ़कर घूमने निकलता हूँ। जब चढ़ाई आ जाती है तो कहता हूँ, "क्यों भाई रिकशावाले नीचे उतर जाऊँ?" और जगह पर पहुँच कर दया दिखाने भर का दो आना काट लेता हूं। कभी कोई दुकानदार पैसा लौटाते वक्त ज्यादा लौटा देता है, तो बेशी सिक्कों को लौटाकर सच्चाई का रोब गालिब करता हूँ। उधार खाने लगता हूं, और ज्यादा चढ़ जाने पर लापता हो जाता हूँ। खाली होने पर औरत के बाजारों का चक्कर लगाता हूँ। और जिनकी दुकानें नहीं चलतीं उनके यहाँ जाता हूँ। मोल-भाव करता हूं और मनमुताबिक सौदा पट जाने पर अन्दर आकर प्रेम का अभिनय करता हूँ। शकलें बनाता हूं और सांसों को सिगरेट के धुँओं में कुछ और लम्बा बनाकर फेंकता हूँ। बड़े-बड़े लोगों से यहीं अक्सर मुलाकात हो जाती है। मैं भी झेंपता हूँ, और वह लोग भी। मैं भी बगलें झांककर निकल जाता हूँ, और वह लोग भी। बाहरी सभ्य दुनियाँ में मिलने पर काम की बातें होती हैं लेकिन चाहता हूं कि दो तीन रुपया जो भी खर्च हो जाता है, वह भी खर्च न हो, और मुफ्त कोई मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो। प्रेम करने से घृणा हो गई है। क्योंकि यह इतना थोथा है, जितना यह सरकार। वक्त और पैसा की बरबादी होती है और हासिल कुछ नहीं होता। फिर जिन लड़कियों से प्यार किया जा सकता है उन्हे प्यार तो क्या अपना नाम नहीं मालूम। बड़ी बेकार सी बात है। कभी सोचता ही नहीं। लेकिन सच एक दूसरी बात है. मान लिया, कभी-कदाज अगर कोई लड़की सामने पड़ ही जाती है, तो वक्त-वक्त से शर्मा-शर्मा कर हल्के-हल्के शराफत से मुहब्बत के मसविदा को तैयार होने देता हूं। और लड़कियाँ, प्यार को नहीं, मुझमें छिपे हुए ऐसे एक आदमी को चाहने लगती हैं। घेरों में बंधी, ये पिछली, पेट्टू और सहारा चाहने वाली लड़कियाँ! दोस्त हैं।

ज्यादातर जो आफिसों से मेरे-ही जितना या कुछ कमबेशी पैदा करते हैं। तरह तरह के। शादी करके घर बसाकर अत्यधिक श्रम, मजबूरी और प्रेम से फाइलों का बोझा ढोते रहने वाले, युनिवर्सिटियों में पढ़ने वाले, मनो-वैज्ञानिक, ऐतिहासिक जासूसी और रोमांटिक उपन्यास लिखने वाले, और कविता लिखने वाले कविता गाने वाले, सामाजवादी, साम्यवादी, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि दलों के कार्यकर्ता, कुशल अभिनय करने का हौसला रखने वाले मौकों की तलाश में घूमने वाले अभिनेता......प्लेबैक सिंगर्स, संगीत विशारद, गलेबाज, और वाद्य-विशारद। स्टेशनों पर घूमता हूं, सड़कों पर घूमता हूँ, पार्कों में जाता हूं, होटलों में चाय पी आता हूँ, सेनिमा जाता हूं। बड़ी दुकानों में घुसकर कपड़ों का मोल भाव करता हूं, इस तरह बड़ा रईस, रुपयेवाला बनने के लोभ को पूरा करता हूँ। कोई मिल जाता है, तो खुशी नहीं होती, कोई अलग हो जाता है, तो दुख नहीं होता। बड़ी जोर की हँसी नहीं आती। बड़ी जोर से दर्द नहीं होता। भाई-बहनों का खत आता रहता है। बड़ी सच्चाई से उनकी मदद करना चाहता हूँ। बड़ी सच्चाई से कामों में व्यस्त भूल जाता हूँ। भाई-बहन, समझते हैं कि श्रीश मदद करना नहीं चाहता। और इसके खिलाफ मैं कब कुछ कहता हूँ। कभी कोई तेज, भावुक विद्रोही बीच में आ जाता है तो पुरानी बातें मंडला कर मेरी जवान बन्द कर देती हैं। लेकिन शरीफ मजाक बनाने वालों से अपने को अलग नहीं करता। शाहिश्तगी से बैठ कर जरा-ज़रा मुस्कराया करता हूँ। जैसे दोनों पक्ष ठीक हैं। शाबाश। और लड़ो। मुझे कुछ नहीं कहना है।

लोग नेक, शरीफ, और तमीजवाला इज्जतदार समझते हैं और मैं भी उनसे अपने को कब अलग मानता हूँ।

कुछ दोस्त बड़े खतरनाक हैं जो बीच में आकर खरी-खोटी सुनाते हैं,

बगावत करते और करने का निमन्त्रण देते हैं दुःख की बातें करते हैं, घुटन की बातें करते हैं मैं सुन लेता हूँ...समझा देता हूँ, हारकर कोटेशन देता हूं लेकिन अन्दर-अन्दर तबीयत होती है, कि ऐसों का गला घोंटकर सारे अतिरंजन का आखीर कर दूँ। कहना चाहता हूँ, 'मेरी इसमें कोई रुचि नहीं।' लेकिन सभ्यता का सफेदपोश चादर मेरे व्यंग को छिपाकर भावुक बना देता है।

आवारा दोस्त साइकिलों पर चढ़कर पानी में भीगते टांगों का पीछा करने की दावत देते हैं।

ऑफिस के दोस्त बगल की टेबुल पर बैठकर गीता के श्लोकों का उद्धरण देकर ड्यूटी समझाते हैं।

फांकेबाज क्लर्क आखों का इशारा करके लंच रूम में चलने को कहते हैं।

विद्यार्थी दोस्त कार्ल-मार्क्स, गेटे एंजिल जोला, चेखव गोर्की, शां, और मोपांसा पर बातें करते हैं।

लिखने वाले दोस्त, लिखी-लिखाई, चीजों का हाल चाल पूछते हैं।

किताबें खरीदता हूं। खासतौर पर अंग्रेजी और अमरीकन। सस्ती और मोटी। पढ़ता हूं। पढ़ता जाता हूं। सबसे छिपाकर। लेकिन खास कहानी के अतिरिक्त कुछ पल्ले नहीं पड़ता पैराग्राफ कहीं खतम हो जाय कोई मतलब नहीं। चरित्र कह दें तो कह दें, मैं उनसे उम्मीद नहीं करता। मर जांय तो मर गये। किताब खतम हो गई तो हो गई। बीच में कुछ सफे नहीं हैं, और इसका सबूत बहुत जाहिर नहीं है, तो मुझे मालूम नहीं होता टेबुलों पर बैठता हूँ तो सबकी राय जानकर कुछ कहता हूं। हँसी का कोई

मौका आता है, तो जब तक लोग हंसना शुरू नहीं करते मैं शरीक नहीं होता। सूक्ष्म बातों के लिए दिमाग जाता रहा......

लिखता हूं, तो मेरी क्वीन-ऑफ-स्काट्स के अतिरिक्त उपन्यास-नाटक या कहानी के लिए कोई दूसरा चरित्र ही नहीं सूझता। और उपमाएँ तो भगवान कसम कुछ ऐसी सूझीं, कि पढ़ने पर तबीयत खुश होकर रह जाया। भाषा रेशमी लिखता हूं क्योंकि मुझे कुछ कहना तो है नहीं। भाषा भी न हो तो फिर क्या? बहुत दिनों से तलाश में हूं कि कोई नई टेकनीक मिल जाय, तो प्रयोगवादियों के मुँह पर ऐसा थप्पड़ जमाऊँ कि बस बेअख्तियार छटपटाते रह जांय। गोटें बैठा रहा हूँ ......जब बैठ जांय!

लेकिन एक दूसरी बात भी बड़ी सच है। अब क्या छिपाऊँ? सुबह ऑफिस जाने से पहले जो बातें सोचता हूं, शाम को याद भी नहीं पड़ती। ऑफिस की फाइलों से उठनेवाली जहरीली हवा को दिन भर नथनों से खींचकर फेफड़ों तक पहुंचा लेने के बाद, विष रगों में भिनकर हड्डियों में जा दर्द की ऐंठन भर देता है। पेट भर लेता हूँ। सो जाता हूँ।

समझदार हो गया हूँ, लेकिन समझ जाती रही है...

गम्भीर हो गया हूँ, लेकिन गम्भीरता जाती रही है ..

चरित्रवान हो गया हूँ, लेकिन चरित्र जाता रहा है...

बुद्धिमान हो गया हू, लेकिन सोचने की शक्ति जाती रही है...

जिन्दा हो गया हूं, लेकिन मुर्दा से बदतर हूँ...

गीता के निर्लिप्त आदमियों सा, सबके बीच घूमता हूँ, सबसे बातें करता हूँ, लेकिन किसी का सुख-दुःख मुझे छू नहीं जाता। झकझोरकर

फुफकारते हुए आदमी के बच्चा की तरह उठ खड़ा होने के लिए मजबूर नहीं करता।

लोगों ने मुझे कलाकार कहना शुरू कर दिया है, जब मैंने अनुभूतियों के सारे दरवाजों को बन्द करके, उन पर सिक्कों की मुहर लगा दी है ......

जब मैं बेवकूफ, और मामूली दिमागवाला अहमक हो गया हूँ...

ए० जी० आंफिस का दफ्तर मेरे गरदन पर चढ़ आया है..."बोलो, लिखोगे, लोगों को जगाने के लिए? बगावत करके जिन्दगी जियोगे? भूखों मार डालूँगा? बोलो?"

"जी नहीं हुजूर, अब तो मेरे लिखने की कला, कला के लिए है! १३७) रुपया जो आपने मेरे मुँह में ठूँस दिया है...अब मुझे कुछ नहीं कहना है।"

सितम्बर महीना के इस आज की तारीख पर पिछली अनगिनत तारीखों के समुद्र का चढ़ा हुआ ज्वार अब उतरता जा रहा है। सर से ऊपर गिद्धनुमा पंखा ने चक्कर काटना बन्द कर दिया है। इकाइयों के पैरों में बंधी हुई शोर की टुकड़ियाँ इस बीच कुछ और बढ़ गई, तो रेस्ट्राँ का वफादार नौकर कल्लू दरवाजों के अन्दर समेट कर उन्हें बन्द करता जा रहा है। मैनेजर जा चुका है। लेकिन काउण्टर पर रक्खी टाइमपीस की दोनों उंगलियाँ बारह पर इकट्ठी होकर धुंआ की तरह टिक-टिक-टिक-टिक का शोर फेंकती जा रही हैं। बड़ी उंगली ज़रा और खसकी, ज़रा और खसकेगी तो एक पर पहुँच जायेगी।

"कल्लू ! ज़रा चाय दे जाना !"

लिखने को तो लिख दूं लेकिन अगर बैठकों, सड़कों, घरों में आने-जाने वाले लोगों ने, कहानी समझकर जबानी बातचीत से आगे कोई कदम न उठाया तो ?

अगर व्यक्ति और पार्टीज़ की मोटी चमड़ियों वाले घरों को तोड़ कर गमों को मिलते हुए लोग असमान के साये में बगावत करने के लिए इकट्ठा न हो सके तो ?

अगर पढ़ने के बाद भी लोग आफिस जाते रहे, आफिसरान की डाँट खाते रहे, तो ?

अगर इन्होंने सारे षडयन्त्रों के पीछे छिपे हुये कुछ सियारी दिमाग वालों की गरदन न मरोड़ दी तो ?

तो उस चरित्र का अपमान हो जायगा।

और घरों की दीवारों के अन्दर बन्द रहने वाली इज्जत आबरू, सभ्यता-संस्कृति, बातचीत और चेहरों की चरित्र हीनता का मैं कतई कायल हूं।

इसलिए उस महान चरित्र को अपमान लांछन, प्रतारणा, व्यंग, व्यक्तिवाद, तिरस्कार, और गतिहीन बातचीत से बचानें के लिए मैंने निश्चय कर लिया है, जो कहानी लिखी जाने वाली थी, वह कभी नहीं लिखी जायेगी।